

कृष्णं वंदे जगद्गुरुम्



दिनकर जोशी



COLLECTION OF VARIOUS
-> HINDUISM SCRIPTURES
-> HINDU COMICS
-> AYURVEDA
-> MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

**Icreator of
hinduism
server!**

KAPWING

कृष्णं वंदे जगद्गुरुम्

दिनकर जोशी



प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
ISO 9001:2008 प्रकाशक

अनुक्रम

अदृश्य का दर्शन

राज्यविहीन यादव

इसमें इस स्त्री का क्या दोष?

कृष्ण जीवन का कारुण्य

राधा और रासलीला

कालिय नाग का फण : उस समय और आज भी

तर्जनी अँगुली पर गोवर्धन धारण

यह राजमार्ग रहस्य-प्राप्ति का नहीं

कृष्ण की कर्मभूमि : द्वारका

कृष्ण और द्रौपदी : परम सख्य कथा

कृष्ण, तुम्हारे पेट में पाप है

दिशा सूचन

दृष्टि : कृष्ण की और धृतराष्ट्र की

यतो कृष्ण ततो धर्म

कृष्ण की धर्म-मीमांसा

मित्र-कर्म

कृष्ण, कुंती और कौरव सभा

कर्ण और कृष्ण : वेदना और महत्ता का गुणोत्तर

स्वधर्म और समझ

कृष्ण वासुदेव

कृष्ण की कसौटी

तो नाश प्राप्त करो तुम वृष्णिवंश

विद्यावंतों की भागवत परीक्षा

दो उत्तुंग शिखरों का प्रतिबिंब

युग का अस्त और महाकाल का संकेत

पूर्णत्व के आदर्श कृष्ण

अदृश्य का दर्शन

गांधीजी ने एक बार कहीं कहा है कि प्रत्येक हिंदू को 'रामायण' और 'महाभारत'—ये दो धर्मग्रंथ अवश्य पढ़ने चाहिए। यह तो स्पष्ट ही है कि गांधीजी का यह कथन धार्मिक भावना से प्रेरित है; किंतु जिस अर्थ में 'बाइबल', 'कुरान' अथवा अन्य धर्मग्रंथों को धार्मिक कहा जाता है, उस अर्थ में 'रामायण' और 'महाभारत' को धर्मग्रंथ नहीं कहा जा सकता। किसी खास धर्म का संस्थापक अपने धर्म के उपदेश के लिए उसके अनुयायियों के सामने धर्म संबंधी मान्यताओं को स्पष्ट करता है, और कालांतर में उन्हें लिपिबद्ध करने से जिस प्रकार अन्य धर्मग्रंथ बने हैं, उस प्रकार 'रामायण' एवं 'महाभारत' धर्मग्रंथ नहीं बने हैं।

ये दोनों ग्रंथ तत्कालीन व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह के आसपास रचित होने पर भी व्यक्तियों तक सीमित नहीं रहे हैं। उनका समाज, उनके प्रश्न, उनके पात्र, उनका घटना-चक्र—यह सब एक विशेष समाज अथवा समष्टि की बात एक निश्चित भूगोल के दायरे में रहकर भले ही करते हों, वास्तव में वे किसी भी समय, किसी भी समाज में और किसी भी भू-प्रदेश के लिए उतने ही सत्य हैं। अतः गांधीजी के उक्त कथन को थोड़े से विशाल परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि 'मनुष्य' नाम की वस्तु को समझने में जिस किसीकी रुचि हो, ऐसे प्रत्येक समझदार मनुष्य को इन दो ग्रंथों को अवश्य पढ़ना चाहिए।

इन दोनों ग्रंथों का ताना-बाना ऐसा है कि इन दोनों के इतने अधिक पाठांतर हैं कि इस बारे में ढेर सारे मत-मतांतर हैं। यह कह पाना कठिन है कि इनमें असली अंश कौन-सा है और प्रक्षिप्त रूप में बाद में जोड़ा हुआ अंश कितना है। महाभारत के तीन स्तर हैं, इस बारे में लगभग सर्व सहमति है; किंतु इन तीनों स्तरों में कितनी ही बातें एक स्तर में से दूसरे स्तर में तथा दूसरे स्तर में से तीसरे स्तर में और वहाँ से फिर पहले स्तर में आगे-पीछे होती रहती हैं। इन तीनों बातों में असलियत को अलग खोज निकालने की दृष्टि से पुणे के 'भांडारकर पौर्वात्य संस्थान' ने चालीस वर्षों तक सतत परिश्रम करके महाभारत का प्रामाणिक पाठ तैयार किया है और इसी प्रकार बड़ौदा के 'महाराजा सयाजी राव विश्वविद्यालय' ने चौबीस वर्षों के श्रमपूर्ण संशोधन और अध्ययन के बाद रामायण का प्रामाणिक पाठ तैयार किया है।

किंतु इससे यह नहीं हुआ कि इन पाठों को आखिरी मानकर सबने स्वीकार कर लिया हो और उनके अलावा समस्त उपलब्ध पाठ सदा के लिए विस्मृति के गर्त में चले गए हों। विद्वानों, बौद्धिकों तथा अति बौद्धिकों में इन दोनों ग्रंथों के असंख्य पात्रों और प्रसंगों के बारे में अविरल विवाद चलता ही रहता है, चलता ही रहेगा। इन दोनों ग्रंथों में जो कुछ लिखा गया है, वह शत-प्रतिशत सत्य है और जो बातें सामान्य बुद्धि को सहज रीति से मान्य नहीं हो सकतीं, उनको भी पूर्ण श्रद्धा से स्वीकार करनेवाले भक्त मौजूद हैं। उदाहरण के लिए, कृष्ण की सोलह हजार एक सौ आठ पत्नियाँ और नौ लाख अस्सी हजार पुत्र होने के तथ्य को प्रत्यक्ष रूप में इन महाग्रंथों के अक्षरों में कोरी आँख से देखना संभव नहीं है और बाइनाक्यूलर की सहायता से पढ़नेवाले कितने ही विद्वान् इन कथनों के असामान्य अर्थ भी निकालते हैं। उदाहरण के लिए, एक विदुषी महिला ने लिखा है कि युधिष्ठिर कुंती और विदुर के समागम से उत्पन्न पुत्र थे। इस बात के समर्थन में वह लिखती हैं—'कुंती अधिकतर समय हस्तिनापुर में विदुर के घर में ही रहती थीं और व्यास ने एक बार कहा है कि मेरे से जो धर्म विदुर में उत्पन्न हुआ, उस धर्म का विदुर ने युधिष्ठिर में विस्तार किया।' रामायण के बारे में भी ऐसा ही हुआ है। वाल्मीकि ने लिखा है कि 'हनुमान का आवास स्त्रियों से शोभायमान था, हनुमान ब्रह्मचारी नहीं थे।' एक विद्वान् ने लिखा है कि 'यहाँ तक का अर्थ-घटन अधूरा

है। बंबई में वडाला के हनुमानजी का पूजन गर्भवती स्त्रियाँ पुत्र-प्राप्ति के लिए करती हैं, यह इसका सूचक है।’

जो बात पात्रों और प्रसंगों के बारे में है, वही भूगोल के बारे में भी है। कल तक सिलोन अथवा श्रीलंका को रावण की राजधानी मानने के बाद आज मध्य प्रदेश के एकाध गाँव को रामायण की लंका के रूप में सिद्ध करने का संशोधन हुआ ही है। आखिर में उड़ीसा के किसी गाँव को ही रावण की राजधानी होने की बात भी पढ़ी है। कृष्ण की मूल द्वारा का कौन-सी है, इस बारे में विवादों का कोई अंत नहीं आया है और कुरुक्षेत्र के मैदान में जहाँ कृष्ण ने अर्जुन को ‘गीता’ का उपदेश दिया, उस खास स्थान को ढूँढ़ निकालने के लिए हरियाणा सरकार ने जिस पुरस्कार की घोषणा की थी, उसे आज तक किसीने प्राप्त नहीं किया है।

महाभारत जैसा कुछ घटित ही नहीं हुआ और यह एक तुच्छ कलह की कोरी कवि कल्पना है, यह माननेवाले पश्चिम के विद्वान् ‘वेखर’ और ‘लोसन’ मुख्य हैं। महाभारत को वे महाकाव्य के रूप में अवश्य स्वीकार करते हैं; किंतु उसकी ऐतिहासिकता को अस्वीकार करते हैं। महाभारत और रामायण को पश्चिम की प्रजा के सामने प्रस्तुत करने के लिए होमर के ‘इलियड’ और ‘ओडीसी’ का उदाहरण पेश किया जाता है। यह कोई गलत नहीं है। किंतु यह गिरनार के सामने अँगुली दिखाकर हिमालय के बारे में ज्ञान कराने जैसा दुष्कर कार्य है। होमर का अथवा उसकी रचना का महत्त्व कम करने की यह चेष्टा नहीं है; किंतु हिमालय की दिव्यता और उसके सौंदर्य की झाँकी कराने का प्रयास है। गिरनार की अपनी गूढ़ता है तो हिमालय की अपनी भव्यता है। विश्व साहित्य में रामायण और महाभारत का जो स्थान है, उनकी तुलना किसी अन्य ग्रंथ से नहीं हो सकती। रामायण और महाभारत के बारे में इतनी प्रस्तावित चर्चा के बाद अब हम अपनी अभिप्रेत मूल बात पर आते हैं। यहाँ मैंने जो लिखने की बात सोची है, वह सब श्रीकृष्ण के संबंध में ही है। स्वाभाविक रूप में इसके कारण महाभारत केंद्र स्थान में रहेगी; हालाँकि वेदव्यास ने महाभारत कोई कृष्ण की कथा कहने के लिए नहीं लिखी है। कृष्ण तो इस महाग्रंथ के एक पात्र मात्र हैं और द्रौपदी स्वयंवर के पहले वह कहीं दिखाई भी नहीं देते। कृष्ण के बारे में आज तक सैकड़ों लेखकों ने सैकड़ों ग्रंथ लिखे हैं; किंतु कोई नहीं कह सकता कि उनके बारे में सबकुछ लिखा जा चुका है। अभी सैकड़ों वर्षों तक लिखते रहें तो भी यह पूरा होने वाला नहीं है। थोड़े वर्षों पहले हिमालय यात्रा में बारह हजार फीट की ऊँचाई पर एक साधु ने हिमालय की पहचान कराते हुए एक सुंदर बात कही थी—‘हिमालय मानव के गर्व का खंडन करता है। पाँच हजार फीट की ऊँचाई पर बड़ी मुश्किल से पहुँचते हैं और वहीं उससे भी ऊँचा शिखर आपकी प्रतीक्षा में खड़ा नजर आता है। इस शिखर पर भी आप चढ़ जाएँ और आपको प्रतीत हो कि आपने दस हजार फीट ऊँचे शिखर पर विजय प्राप्त कर ली है, तब आपको एक अन्य दस हजार फीट ऊँचा शिखर यह प्रतीति कराता है कि आप अभी तलहटी में ही खड़े हैं।’ जो बात साधु ने हिमालय के बारे में कही थी, वही महाभारत पर अक्षरशः लागू होती है, कृष्ण के विषय में तो विशेष रूप से।

आभार है नानाभाई भट्ट का, जिन्होंने लगभग चार दशाब्दी पहले पहली बार कृष्ण का परिचय कराया था। चार दशाब्दी पूर्व का यह परिचय लगभग तीन वर्ष पहले लिखी एक नकल कथा की पूर्व तैयारी के समय इतना प्रगाढ़ हो गया कि उसके बाद मैंने कृष्ण के बारे में, जो भी साहित्य उपलब्ध था उसे, पढ़ना शुरू कर दिया। जैसे-जैसे देखता गया, विचार करता गया, उन सबको प्रकट विचारण के रूप में यहाँ लिपिबद्ध किया है। इसे कोई संशोधन न कहें, मौलिक अर्थ-गहन अथवा विद्वत्ता जैसे भारी-भरकम शब्दों से भी न पहचानें—यह तो एक दर्शन है, मात्र कृष्ण दर्शन। मैंने यह दर्शन किया है, इसमें सहभागी होने का सहृदयों को एक निमंत्रण है।

ऋग्वेद संहिता में कृष्ण के नाम का उल्लेख जरूर मिलता है; किंतु यह नाम तो उसमें एक असुर राजा का है। बौद्ध और जैन धर्मग्रंथ तो कृष्ण को बिलकुल अलग रीति से पहचानते हैं। जिस कृष्ण का हमें यहाँ दर्शन करना है,

वह कृष्ण तो मुख्य रूप से महाभारत के हैं। हरिवंशपुराण के हैं, श्रीमद्भागवत के हैं और विष्णुपुराण एवं ब्रह्मवैवर्तपुराण के मुख्य रूप से, तथा पद्मपुराण अथवा वायुपुराण जैसे किसी पुराण के अंश रूप हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि यह दर्शन भी संपूर्ण है। लेखक की दृष्टि आंशिक हो सकती है, कहीं रुचि-भेद से प्रेरित दृष्टि भी हो सकती है और कहीं इस दृष्टि की साहसिक मर्यादा भी हो सकती है।

‘श्रीकृष्ण—डार्लिंग ऑफ ह्यूमेनिटी’ नामक एक ग्रंथ में उसके लेखक ए.एस.पी. अय्यर ने एक सरस कथा लिखी है। एक अति बुद्धिशाली व्यक्ति को कृष्ण के अस्तित्व के बारे में ही शंका थी। उन्होंने एक संत के सामने अपनी शंका प्रस्तुत की—

‘मुझे प्रतीत होता है कि कृष्ण कोरी कल्पना का पात्र है। वास्तव में ऐसा कोई पुरुष हुआ ही नहीं।’ उन्होंने कहा।

‘यह बात है? क्या आपका वास्तव में अस्तित्व है?’ संत ने जवाबी प्रश्न किया।

‘अवश्य।’ उस विद्वान् ने विश्वासपूर्वक कहा।

‘आपको कितने मनुष्य पहचानते हैं?’

‘कम-से-कम पाँच हजार तो अवश्य। मैं प्रोफेसर हूँ, विद्वान् हूँ, लेखक हूँ आदि।’

‘अच्छा-अच्छा! अब यह कहिए कि कृष्ण को कितने मनुष्य पहचानते हैं?’

‘करोड़ों, कदाचित्त अरबों भी हो सकते हैं।’ विद्वान् ने सिर खुजलाया।

‘और यह कितने वर्षों से?’

‘कम-से-कम इस काम को तीन हजार वर्ष तो हुए ही हैं।’

‘अब मुझे यह कहिए कि चालीस वर्ष की आपकी आयु में जो पाँच हजार मनुष्य आपको पहचानते हैं, उनमें से कितने आपको पूजते हैं?’

‘पूजा? पूजा किसकी? मुझे तो कोई पूजता नहीं?’

‘और कृष्ण को तीन हजार वर्षों बाद भी करोड़ों मनुष्य अभी भी पूजते हैं। अब आप ही निर्णय करें कि वास्तव में आपका अस्तित्व है अथवा कृष्ण का।’

जिनके स्मरण मात्र से अस्तित्व का अहंकार भी मिट जाता है, ऐसे कृष्ण के दर्शन की बात आगे करेंगे।



राज्यविहीन यादव

कृष्ण जन्म के समय के तत्कालीन आर्यावर्त पर एक विहंगम दृष्टि डालें। सप्त सिंधु से लगाकर गंगा-यमुना के विशाल, फलद्रुम मैदानों में आर्य फैल चुके थे। यह सही है कि रामायण काल महाभारत के काल के पहले का है; किंतु रामायणकालीन आर्य विंध्य को पार करके दक्षिण में गए थे, ऐसी व्यापक मान्यता है। इसके विपरीत, महाभारत काल रामायण काल के पीछे का काल होने पर भी इस समय के पात्र कहीं भी दक्षिण में गए हों, इसका विश्वसनीय उल्लेख नहीं मिलता। सिंधु नदी के पश्चिम में फैला हुआ सिंध का आर्यावर्त के तत्कालीन इतिहास में थोड़ा भी उल्लेखनीय भाग नहीं है। रामायण में दक्षिण का जो उल्लेख है, वह विश्वसनीय नहीं और लंका आज का सिलोन नहीं, प्रत्युत मध्य प्रदेश का एक गाँव है। इस मान्यता के मूल में, यह बात है कि रामायण के पीछे कितने ही लंबे समय बाद हुए महाभारत के पात्र दक्षिण से अपरिचित हैं। इसमें निहित तर्क को स्वीकार किए बिना चल नहीं सकता। पांडवों के वनवास की अवधि में अर्जुन तीर्थाटन करते हुए, कृष्ण अपनी अपूर्व भूमिका में कभी भी दक्षिण के किसी स्थान में गए नहीं, अतः आर्यावर्त था विंध्य के उत्तर का भूखंड, पश्चिम में द्वारका, पूर्व में प्रागज्योतिषपुर अर्थात् आज का असम और उत्तर में सिंधु नदी के आसपास का क्षेत्र—इसमें हिमालय का समावेश अवश्य हो जाता है। गांधार अर्थात् आज का अफगानिस्तान विदेश है और सिंध का राज्य आर्यावर्त तथा गांधार के बीच आज की भाषा में एक ‘बफर स्टेट’ होगी, ऐसी संभावना है।

इस आर्यावर्त में फैल चुके आर्य दल अपने-अपने भूखंडों की सीमाएँ निर्धारित कर चुके थे और अपनी सामर्थ्य एवं शक्ति से इन भूखंडों के राजा सिंहासनारूढ़ हो चुके थे। गणतंत्रों और आर्य दलों के बड़ों की सलाह से चलने वाले शासन तेजी से गत काल की घटना बन चुके थे। हस्तिनापुर, मगध, चेदि, प्रागज्योतिषपुर, कलिंग आदि अनेक राज्य अस्तित्व में आ चुके थे। उस समय अनेक राज्य अवश्य थे; किंतु इनमें कोई साम्राज्यवादी कल्पना अभी दृढ़ नहीं हुई थी। समर्थ राजा पड़ोसी राज्य को परास्त करने में गौरव अवश्य अनुभव करते; किंतु यह तो मात्र आधिपत्य को स्वीकार कराने के अहं को संतोष देने तक ही सीमित था। किसी राज्य को खालसा करके उस भूमि को पचा लेने का कार्य पराक्रम नहीं प्रत्युत निंद्य गिना जाता था। यह अधर्म था, अक्षम्य था, तिरस्कृत था। साम्राज्यवादी मानस का उदय मानव सहज था; कारण, स्वयं जिसे सामर्थ्य से प्राप्त किया हो, उसका उपभोग न करके तत्कालीन नीति की मर्यादाओं के अंतर्गत उसका त्याग कर देना समर्थ मनुष्य को पसंद आनेवाली बात न थी और इसीलिए कहा जा सकता है कि ये साम्राज्यवादी परिबल अपने उदय काल में थे। मगध का जरासंध इसका विशेष उदाहरण था।

इस संदर्भ में कुरुक्षेत्र के महायुद्ध के अंत में महर्षि वेदव्यास विजेता राजा युधिष्ठिर को कहते हैं—‘हे युधिष्ठिर! जो-जो राजा इस युद्ध में मारे गए हैं, उनकी रानियों को सांत्वना देने के लिए दूत भेजो, उनके पुत्रों का राज्याभिषेक करो। यदि पुत्र न हो और रानी सगर्भा हो तो राज्य के संचालन का काम सँभालने के लिए योग्य मनुष्यों को नियुक्त करो। (महाभारत, शांतिपर्व, ३४। ३१-३३)

इस तरह एक ओर स्थिर हो चुके राज्यों की विभावना, दूसरी ओर उदयमान हो रही साम्राज्यवादी विभावना और उनके बीच आर्यों के आगमन के साथ गणतंत्र की जो उज्ज्वल विभावना थी, उसको चरितार्थ करनेवाले अथवा चरितार्थ करने का संघर्ष करनेवाले यादव थे और इन यादवों का राज्य मथुरा था। यादव मथुरा के साथ और इस मथुरा का इतिहास इक्ष्वाकुवंश के राजा रामचंद्र के लघु भ्राता शत्रुघ्न के साथ जुड़ा हुआ है। यह उल्लेख मिलता है

कि शत्रुघ्न ने मथुरा को जीता था और इक्ष्वाकुवंशियों को यहाँ बसाया था।

यादवों का गणतंत्र गणतंत्रों के इस इतिहास का अंतिम अवशेष प्रतीत होता है। कारण, कृष्ण के बिदा होने के पश्चात् राजाओं की परंपरा ही चली है। यादव राज्यविहीन थे, इस विषय में शिशुपाल ने राजसूय यज्ञ के समय कृष्ण की पूजा का विरोध करते हुए कहा भी है—‘यादवों में कोई राजा नहीं है तो फिर कृष्ण को किस प्रकार कहा जा सकता है? कृष्ण राजा नहीं है, अतः राजा के रूप में उसे अर्घ्य नहीं दिया जा सकता।’

यादव राज्यविहीन थे, इस विषय में एक कथा भी है। शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी एवं असुर कन्या राजकुमारी शर्मिष्ठा—इन दो स्त्रियों के साथ संसार का भोग करते हुए राजा ययाति को गुरु शुक्राचार्य के शाप से असमय में ही वृद्धत्व प्राप्त हुआ। ययाति की देह वृद्ध हुई, किंतु मन अभी वृद्ध नहीं हुआ था। कृपा करके शुक्राचार्य ने शाप के निवारण का मार्ग सूचित किया—‘यदि तेरा वृद्धत्व तेरा कोई पुत्र ले तो उसके बदले में उसका यौवन तुझे मिल जाएगा।’

‘कामातुराणां न भयं, न लज्जा’ इस न्याय से विषयों के उपभोग के लिए लज्जा का त्याग करके ययाति ने अपने पुत्र यदु से कहा—‘पुत्र, मेरे वृद्धत्व के बदले में तुम अपना यौवन मुझे दे दो।’ यदु ने पिता की यह अनोखी माँग स्वीकार नहीं की। इससे रोष से भरे पिता ने पुत्र को शाप दिया—‘अराज्या ते प्रजामूढा!’ (तेरे वारिस राज्यविहीन रहेंगे।) इस यदु के पुत्र ही यादव हुए और इसलिए ये यादव राज्यविहीन थे।

किंतु गणतंत्र कोई पूर्ण राज्य-पद्धति तो नहीं है। गणतंत्र की भी अपनी मर्यादाएँ हैं। ये मर्यादाएँ ही स्वेच्छाचारी राजाशाही और उसमें से विकसित होने वाले साम्राज्यवाद की जननी हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि जर्मनी में, आधुनिक काल में, हिटलर का विकास गणतांत्रिक पद्धति से ही हुआ था। यह तथ्य भी स्मरण रखने योग्य है कि हजारों वर्ष पहले तत्कालीन इतिहास में मथुरा के गणतंत्र में से कंस का विकास हुआ था।

यादव वंश के विविध कुलों—वृष्णि, भोजक, अंधक आदि—में पूजनीय माने जानेवाले वयोवृद्ध उग्रसेन, वसुदेव एवं अक्रूर—सब निर्वीर्य होकर इस तरह स्तब्ध हो गए कि उग्रसेन के पुत्र कंस ने मथुरा के गणतंत्र का नाश कर डाला; स्वयं अपने पिता उग्रसेन को कारागार में डाल दिया और वसुदेव को जेल में पहुँचा दिया। अक्रूर समय का अनुसरण करके कंस के अनुकूल हो गए। आज भी गणतंत्र जब किसी पाली हुई गाय के समान हो जाते हैं तो गणतंत्र के अनेक मुखिया उस तानाशाह की गाड़ी में बैठकर लाभ उठाते हुए दिखाई दे जाते हैं। अक्रूर उनके पूर्वज ही कहे जा सकते हैं। किंतु कंस ने ऐसा किस प्रकार किया?

पिता उग्रसेन और यादव परिवारों के प्रति ऐसा उग्र प्रकोप किसलिए? स्वयं गणतंत्र निर्वीर्य किस प्रकार हो गया? लाख रुपए के इस प्रश्न का जो उत्तर मिलता है, उसका मूल्य वर्तमान संदर्भ में भी कम नहीं है।

□

इसमें इस स्त्री का क्या दोष?

‘हरिवंश’ के विष्णुपर्व में स्वयं कंस के मुख से महर्षि वेदव्यास ने उसकी जन्मकथा प्रस्तुत की है। कंस को उसके जन्म की यह बात नारद ने कही है। कृष्ण का मथुरा में आगमन हो चुका है। मल्लयुद्ध और कुवलयापीड़ हाथी की घटनाएँ होना शेष हैं। जिस दैवी धनुष को केंद्र में रखकर धनुर्यज्ञ का आयोजन किया गया था, उस प्रचंड धनुष को कृष्ण ने कंस के शस्त्रागार में तोड़ दिया, यह घटना हो चुकी थी। दूसरे दिन के लिए आयोजित समारंभ के लिए कंस रंगमंडप का अंतिम निरीक्षण करता है, तब कंस अपने जन्म की कथा सुनता है।

यह कथा इस प्रकार है—

कंस के जन्म के पहले उसकी माता अर्थात् यादवों के वरिष्ठ पुरुष उग्रसेन की पत्नी पवनरेखा एक समय वन-विहार के लिए जाती है। ‘सुयामुन’ नामक पर्वत पर रमणीय प्रदेश में वह सखियों-दासियों के साथ स्वच्छंद विहार कर रही थी। उस समय सुहावनी प्रकृति ने उसकी देह में कामाग्नि प्रज्वलित की (उस समय वह रजस्वला थी, ऐसा विधान भी व्यास ने किया है)। ठीक उसी समय योगानुयोग ऐसा हुआ कि सौभ नगरी का राजा दुर्मिल उस प्रदेश में विहार कर रहा था। दुर्मिल ने दूर से उग्रसेन की इस रूपवती पत्नी को देखा और देखते ही उसे पाने के लिए विह्वल हो उठा। यह स्त्री कौन है, यह जानने के लिए अपनी अंतर्ज्ञान शक्ति से उसने वायु का ध्यान किया और यह जान लिया कि यह उग्रसेन की पत्नी है। इसके पश्चात् दुर्मिल ने अपनी योग शक्ति से उग्रसेन का रूप धारण किया और वहाँ जाकर उस स्त्री को भुलावे में डाला। उस कामातुर स्त्री ने यह मानकर कि वह उसका पति उग्रसेन है, दुर्मिल को अपनी देह सौंप दी। किंतु समागम के समय दुर्मिल के व्यवहार से शंकित हुई उस स्त्री ने यह जान लिया कि वह उसका पति नहीं है। वह भयभीत होकर खड़ी हो गई और दुर्मिल को फटकारते हुए कहा—‘हे अधमकृत्य करनेवाले! तू मेरा पति नहीं है। बता तू कौन है?’

इसके बाद दुर्मिल ने अपना असली रूप प्रकट किया और कहा कि पहले अनेक स्त्रियों ने लगनेतर संबंधों से महा पराक्रमी पुत्र प्राप्त किए हैं और इसी प्रकार तुझे भी मुझसे ऐसा ही पराक्रमी पुत्र प्राप्त होगा। ते कस्य एवं (तू कौन?), यह प्रश्न किया।

स्पष्ट है कि कंस जन्म की यह कथा रामायण काल की अहल्या-इंद्र की कथा से बहुत अधिक मिलती है। अब इस कथा के परिप्रेक्ष्य में थोड़ा आनुषंगिक विचार करें।

उग्रसेन की यह पत्नी वन-विहार के लिए कोई अकेली तो नहीं ही गई थी। फलस्वरूप उग्रसेन रूपधारी दुर्मिल ने उसके साथ जो व्यवहार किया, वह बात कोई गोपनीय तो नहीं रही होगी। उग्रसेन सहित सब यादव इस स्त्री के भ्रष्ट होने की बात जान चुके होंगे। इन संयोगों में उग्रसेन के ज्येष्ठ पुत्र के रूप में कंस के जन्म का कोई सहज ही स्वागत नहीं कर सकता, यह सहज ही समझ में आने योग्य बात है। इस प्रकार कंस का यादवों के मध्य लालन-पालन होने पर भी यह संभव प्रतीत होता है कि कंस के प्रति अन्य यादवों का व्यवहार अछूत जैसा रहा होगा। उग्रसेन की धर्मपत्नी की कोख से जन्म लेने पर भी उसमें यादव रक्त प्रवाहित नहीं होना, यह विचार भूलने जैसा नहीं था। इस भार के नीचे स्वयं उसकी माता—उग्रसेन की पत्नी—भी यादवों से उपेक्षित रही होगी, यह स्वाभाविक है। अपने किसी भी दोष के बिना भरे-पूरे समाज में ‘भ्रष्टा’ के रूप में जीना किसी भी स्त्री के लिए कठिन कार्य होगा। कंस की माता यादव परिवारों की दृष्टि में भ्रष्टा थी, इसलिए उसका स्वाभाविक गौरव नष्ट हो चुका था। पति से, समाज से उपेक्षित नारी के रूप में वह अपने शेष दिन पूरे कर रही थी।

इस प्रकार समस्त यादव समाज में एक उपेक्षित नारी के अस्पृश्य पुत्र के रूप में कंस ने जो देखा होगा, जो अनुभव किया होगा, यह स्वाभाविक है कि उसने उसके मन में उग्रसेन सहित सभी यादवों के लिए बहुत कटुता भर दी होगी। फिर नारद ने उसे अपने जन्म की कथा कही तो उसके मन में यह विचार घर कर गया होगा कि मैं यादव नहीं हूँ। उस क्षण कंस बोल उठता है—‘मैं यादव नहीं, मैं समस्त यादवों का त्याग करता हूँ।’

कंस समर्थ था, शक्तिशाली था। यादव परिवारों ने उसे किसी दोष के बिना उसकी माता और स्वयं उसके साथ जो व्यवहार किया, उसपर वह दुःखी था। उसने अनुकूल समय पर, पूरी शक्ति प्राप्त करने के बाद, प्रतिशोध लिया। यादवों के व्यवहार में कुछ अघटित न था। तत्कालीन सामाजिक नीति-नियमों को यह स्वाभाविक है कि वे भूल नहीं सकते थे। उग्रसेन की पत्नी अथवा उसके इस पुत्र को यह स्वाभाविक है कि वे उमंग से सत्कार नहीं कर सके होंगे; पर उन्होंने उसका कहीं भी तिरस्कार नहीं किया। किंतु कंस को इस विचार से कुछ पूरा संतोष नहीं हो सकता था।

निर्दोष नारी को जब तत्कालीन सामाजिक नियम ‘भ्रष्ट’ की मुहर लगा देते हैं तो समाज स्वयं अपराधी बन जाता है। इस अपराध से मुक्त होने के लिए ही उसे मूल्य चुकाना पड़ता है। वह बहुत भारी होता है। निर्दोष स्त्री को ‘भ्रष्ट’ के रूप में उपेक्षित करने के लिए यह कहा जा सकता है कि यादव परिवारों को गणतंत्र की बलि देनी पड़ी। कंस ने गणतंत्र का नाश किया। उग्रसेन सहित वरिष्ठ यादवों को कारावास में धकेल दिया। यादवों पर स्वेच्छाचारी, अत्याचारी शासन थोप दिया।

इस कथानक को—वर्षों बाद कृष्ण ने प्रागज्योतिषपुर के राजा भौमासुर को मारकर, उसके अंतःपुर में कैदी जैसी अवस्था में रहनेवाली सोलह हजार स्त्रियों को मुक्त किया—उसके साथ जोड़ा जा सकता है। एक यादव स्त्री निरपराध होते हुए भी भ्रष्ट बनी और उसके परिणामस्वरूप यादव गणतंत्र का नाश हुआ। सच कहा जाए तो एकजुट यादव इस घटना के बाद मन-ही-मन अलग पड़ गए। अक्रूर ने अनजाने भी कंस का साथ दिया और इस साथ को यादव भूले नहीं। यादवस्थली में जब महाविनाश हुआ, उस समय जब यादव परस्पर दोषारोपण करते हैं, उसमें इसका भी उल्लेख है।

भौमासुर के अंतःपुर में अपने किसी भी दोष के बिना पिसती हुई इन सोलह हजार स्त्रियों को समाज ने किस प्रकार स्वीकार किया होता? इन स्त्रियों को कृष्ण ने सामाजिक दर्जा दिया। ऐसा ऊँचा दर्जा कि जिसकी ओर कोई उँगली न उठा सके, कोई इन स्त्रियों को भ्रष्ट न कह सके। एक स्त्री, उग्रसेन की पत्नी, के उपेक्षित होने की सजा इतनी बड़ी हो सकती थी तो सोलह हजार उपेक्षित स्त्रियों—सामाजिक दर्जे से विहीन स्त्रियों के लिए समाज को कितनी बड़ी सजा भोगनी पड़ती? कृष्ण ने इस विनाशकारी संभावना से समाज को उबार लिया। (इन स्त्रियों को कृष्ण ने दर्जा मात्र दिया। उनके साथ अपनी पत्नियों के समान व्यवहार करने की बात व्यर्थ और हास्यास्पद है। भौमासुर की यह घटना ऐतिहासिक दृष्टि से भी सौ प्रतिशत सही नहीं कही जा सकती।)

इस समय वर्तमान काल की एक छोटी-सी बात भी ध्यान में आती है। सन् १९४७ में देश के विभाजन के बाद अपहृता नारियों को उबारने के भगीरथ काम में कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर के साथी गुरुदयाल मालिक जुड़े। उन्होंने ‘दिल की बात’ नामक पुस्तक में अपने अनुभव लिखे हैं। एक अपहृता नारी को पाकिस्तानी प्रदेश से छुड़ाकर गुरुदयाल मालिक दिल्ली में उसके कुटुंबी जनों के पास ले जाते हैं। उस समय उस अभागी नारी के परिवार ने उसे स्वीकार नहीं किया। ‘यह स्त्री तो अब भ्रष्ट हो चुकी है, इसलिए हमारे परिवार में इसका कोई स्थान नहीं है,’ यह कहकर उसे घर में नहीं लिया। मालिक लिखते हैं—‘दूसरे दिन, किसी स्त्री संस्था में रात्रिवास करनेवाली उस स्त्री ने यमुना नदी में कूदकर आत्महत्या कर ली।’ यह घटना लिखने के बाद मालिक कहते हैं—आक्रोश व्यक्त करते हैं

—‘अल्लाह! ऐसे समाज को तो तबाह ही कर दे।’



कृष्ण जीवन का कारुण्य

कृष्ण का जन्म हुआ कारावास में। जीवन की पहली साँस ली बंदी अवस्था में। उनका देहविलय हुआ प्रभासक्षेत्र में—एक अनजाने एवं एकांत स्थान में; और एक पारधी के हाथ से, एक वनचर समझकर उनपर प्रहार हुआ, जो घातक सिद्ध हुआ। उनकी पार्थिव देह अंतिम संस्कार की प्रतीक्षा में कितने दिन पड़ी रही होगी, इस विषय में कुछ निश्चित गिनती करके नहीं कहा जा सकता; किंतु द्वारका से हस्तिनापुर संदेश लेकर गया सारथि दास अर्जुन को लेकर हस्तिनापुर से वापस लौटा और इसके बाद अर्जुन के हाथ से कृष्ण की देह का अंतिम संस्कार हुआ। इस प्रकार एक युगपुरुष का अंत हुआ।

जन्म और देहोत्सर्ग दोनों करुणता की चरम सीमा जैसे हुए। इन दो चरम सीमाओं के बीच जो वर्ष बीते, वे भी कुछ कम करुण न थे। कृष्ण जीवन का कारुण्य कोई आलेखन जैसा है। जन्म के तुरंत बाद ही माँ की छाती से लग जाने का प्रत्येक बालक का अधिकार है। इस प्राकृतिक अधिकार से कृष्ण वंचित रहे। पिता की अँगुली पकड़कर गली में निकलने का सौभाग्य कृष्ण को कभी नहीं मिला। यह सत्य है कि यशोदा और नंद पालक माता-पिता ने जनक-जनेता जैसा ही दुलार दिया; किंतु इससे कृष्ण ने मानव बालक के रूप में जो खोया, उसकी पूर्ति नहीं हो सकती। कंस के हत्यारों के भय के बीच ही बालपन बीता। अनेक बार मृत्यु के अति निकट पहुँचकर सकुशल बाहर आए। चौदह वर्ष की आयु में कंस का वध करके मथुरा को मुक्त किया। किंतु इस मुक्त मथुरा में वह शांति से बैठ नहीं पाए। जिन यादवों को उन्होंने कंस के शासन से मुक्ति दी, उन्हीं यादवों ने कृष्ण से कहा—‘कृष्ण! मथुरा को जरासंध के हमले से बचाने के लिए तुम यहाँ से चले जाओ।’

अतिशय करुण यह पल

जरासंध की सेना के तैंतीस अक्षौहिणी होने का उल्लेख भागवत में है। स्मरण रहे कि कुरुक्षेत्र के महायुद्ध में भी दोनों पक्षों की मिलकर अठारह अक्षौहिणी सेना एकत्रित हुई थी। इस विशाल सैन्य बल से टक्कर ले पाना मथुरा के लिए कठिन था। जरासंध का वैर कृष्ण के प्रति था—समग्र यादव परिवार के साथ नहीं। कारण, उसके दामाद कंस की हत्या के लिए मात्र कृष्ण ही उत्तरदायी थे, समस्त यादव परिवार नहीं। जिन यादवों को कृष्ण ने मुक्त किया, उन्हीं यादवों ने कृष्ण को सूचित किया—‘मथुरा महान् है—यादव परिवार महान्! कृष्ण, तुम यहाँ से चले जाओ।’

कृष्ण ने मथुरा छोड़ दी। शांतिपर्व में कृष्ण के मुख से वेदव्यास ने एक सूचक बात कहलाई है। कृष्ण नारद से कहते हैं—‘नारद! अपने परिवारजनों को मैं अपने ऐश्वर्य का आधा भाग देता हूँ, तब भी वे मुझे कटु वचन सुनाते हैं...मुझे लगता है मानो मैं अकेला हूँ।’

स्वजनों से उपेक्षित होने की व्यथा कृष्ण ने कितने वर्षों अपने अंतर में छिपाए रखी होगी! कृष्ण का आयुकाल लगभग एक सौ पच्चीस वर्ष होने का अनुमान विद्वानों और संशोधकों ने अलग-अलग संदर्भों के आधार पर प्रस्तुत किया है।

कृष्ण जन्म के बाद तुरंत ही पिता वसुदेव नवजात पुत्र को चोरी-छिपे मथुरा से गोकुल ले गए। लौखंडी कारावास में यह घटना कैसे हुई, यह सहज भाव से समझ में आने जैसा नहीं है। प्रभुत्व को एक बार स्वीकार कर लें तो विवाद के लिए अवकाश नहीं रहता। किंतु सामान्य समझ से यदि कृष्ण जीवन की समीक्षा करनी हो, उसे देखना हो तो यह मुद्दा महत्त्व का है। कारागार में से वसुदेव किस प्रकार बाहर निकले? मथुरा और गोकुल के बीच आज जो अंतर है, उसे जो लोग जानते हैं, उनके सामने यह प्रश्न उठेगा कि रात्रि की थोड़ी-सी घड़ियों में वसुदेव पैदल

जाकर वापस किस प्रकार लौटे होंगे?

चमत्कारों को थोड़ी देर के लिए भूल भी जाएँ तो इन प्रश्नों के समाधान की दिशा ज्ञात हो सकती है। कंस के शासन को यादवों ने स्वीकार नहीं किया था। वसुदेव या उनका भावी पुत्र कंस की हत्या करके यादवों को मुक्त कराने की सामर्थ्य रखता है, इस आर्षवाणी से कोई यादव अनजान न था। कंस का खुला विरोध कोई कर नहीं सकता था; किंतु जो वसुदेव जोखिम उठाकर अपने नवजात पुत्र को किसी सुरक्षित स्थान में रख सकते हों, तो इस काम में चुपचाप साथ-सहकार देने के लिए मथुरा के यादव तैयार हो जाएँ; जिनमें कारागार पर पहरा देनेवाले सैनिकों का भी सहमति हो, यह संभव है। औरंगजेब के कारागार में से यदि शिवाजी भाग सकते हैं, ब्रिटिश साम्राज्य के कारागार में से यदि सुभाषचंद्र बोस भाग सकते हैं तो कंस के कारागार से वसुदेव ने थोड़े समय के लिए निकल जाने की योजना की हो, तो यह सब बुद्धिगम्य लगता है।

मथुरा और गोकुल के बीच का आज का अंतर तो मोटर के रास्ते से है। आड़े-टेढ़े नदी मार्ग से यह अंतर चार-पाँच किलोमीटर से अधिक नहीं। रात्रि की थोड़ी घड़ियों में इस अंतर को काटना कुछ असंभव घटना नहीं कही जा सकती।

कंस-वध के बाद कृष्ण ने मथुरा को त्याग दिया, यह बात भी थोड़ी विचारने योग्य है। जरासंध के पहले हमलों का यादवों ने सामना किया था। जरासंध द्वारा कुल अठारह बार आक्रमण करने की बात में सरासर अतिशयोक्ति होना संभव है। दूसरे हमले का सामना करने के लिए ऐसा नहीं कि कृष्ण तैयार नहीं थे। यह सच है कि यादवों ने मथुरा को उबार लेने के लिए कृष्ण से अन्यत्र चले जाने को कहा। इसमें पिता वसुदेव की भी सहमति होती है। गणतंत्र और भूमि दोनों व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महान् हैं, इस सिद्धांत का प्रतिपादन पिता वसुदेव यहाँ पुत्र का भोग देकर करते हों, यह संभव लगता है। किंतु जरासंध का दूसरा हमला अकेला-दुकेला नहीं था। इस बार जरासंध ने कालयवन को साथ लिया है। कालयवन सिंधु नदी के पश्चिम में बसा है। वह सिंध का स्वामी है और सिंध का हिस्सा आर्यावर्त के इतिहास में उस समय आर्यावर्त की सीमा के बाहर हो, ऐसा लगता है। उत्तर रामायण में यह उल्लेख है कि शत्रुघ्न ने राम की आज्ञा से सिंधु नदी के उस पार के प्रदेश पर आधिपत्य जमाया और उस भूमि पर अपने पुत्र 'तक्ष' के नाम पर 'तक्षशिला' नाम की नगरी बसाई थी। इस प्रकार सिंधु के उस पार का प्रदेश इस युग के आर्यावर्त की सीमाओं से दूर होना संभव है।

जरासंध (मागधों) और यादवों के बीच संघर्ष तो आर्यावर्त का आंतरिक मामला था और इस आंतरिक मामले में एक विदेशी सत्ता का हस्तक्षेप कृष्ण की आर्य-दृष्टि को पसंद न आया हो, यह सब बुद्धिगम्य लगता है। मागधों के साथ तो पीछे हिसाब समझ लिया जा सकता है; किंतु एक बार कोई बाहरी हस्तक्षेप आर्यावर्त की सीमाओं में हो जाए तो इसका दूरगामी परिणाम अच्छा नहीं हो सकता।

बीसवीं सदी में गांधीजी ने अंग्रेजों के प्रति यही रुख अपनाया। उन्होंने कहा—'हिंदू और मुसलमान हम आपस में समझ लेंगे, तुम यहाँ से बिदा हो जाओ।' यह संभव है कि मथुरा-त्याग के पीछे कृष्ण का भी यही रुख रहा हो। कृष्ण की विचारधारा कहीं राजकारण की नहीं, राजनीतिज्ञ की है।

कारागार से वसुदेव यादवों के गुप्त सहयोग से ही पुत्र को सुरक्षित स्थान में ले जा सके; उसी प्रकार यादवों के गुप्त सहयोग से ही कृष्ण ने कंस का वध किया हो, यह प्रतीत होता है। चौदह वर्ष का बालक कंस जैसे समर्थ, प्रतापी एवं प्रचंड पुरुष को उसकी ही सभा में बाल पकड़कर मार डाले और इसपर भी सभा में कोई कुछ न बोले, यह बात स्पष्टतः ही चामत्कारिक है। यद्यपि कंस-वध की यह बात श्रीमद्भागवत और हरिवंश में है, पर महाभारत में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है। इस घटनाचक्र में ऐतिहासिक तत्त्व कम प्रतीत होता है महाभारत में सभापर्व में

कृष्ण स्वयं युधिष्ठिर को कंस-वध के बारे में इस प्रकार कहते हैं—‘कंस के अत्याचारों से त्रसित जातिजनों को मुक्त करने के लिए मैंने बलराम की सहायता से कंस का नाश किया।’ यहाँ केवल इतना ही कहा गया है।

इसी सभापर्व में शिशुपाल ने कृष्ण को जो गालियाँ दी हैं, उनमें कृष्ण चरित्र के एक कलंक का इस प्रकार वर्णन किया है—‘इस कृष्ण ने कंस का अन्न खाया, और इसीने उसका नाश किया है।’ कंस-वध की जो प्रचलित बात जानते हैं, उसके अनुसार तो कंस-वध की पिछली संध्या कृष्ण पहली ही बार गोकुल छोड़कर मथुरा आए थे। यदि ऐसा हो तो कृष्ण ने कंस का अन्न किस प्रकार खाया होगा? शिशुपाल के आक्षेपों का जो उत्तर कृष्ण ने शिशुपाल के वध के पहले दिया है। उसमें उन्होंने इस आक्षेप का खंडन करनेवाली कोई बात नहीं कही।

यदि ऐसा हो तो कृष्ण पहले से मथुरा में रहते थे, यह अर्थ निकाला जा सकता है क्या?

यह भी एक प्रश्न है।

उत्तर ढूँढ़ने जैसा है।



राधा और रासलीला

कृष्ण की बाललीला का पहलू ही ऐसा है, जो उड़कर आँखों में समा जाता है। अन्य किसी युगपुरुष अथवा धर्मपुरुष की बाललीला इतनी मोहक और सविस्तार नहीं लिखी गई। यह बाललीला मनोहर है, रोमांचक है; किंतु ऐतिहासिकता आज जिस रूप में हमारे सामने है, उस रूप में वह लीला स्वीकार्य नहीं है। एक बार भक्तिपूर्वक उसे स्वीकार कर लें तो ऐतिहासिकता गौण बन जाती है; किंतु यदि सामान्य बुद्धि की तराजू पर इस बाललीला के कुछ पहलुओं को समझने का प्रयास करें तो उसके सूचितार्थ समझ में आने योग्य हैं। 'ऐतिहासिकता' शब्द को नास्तिकता अथवा अस्वीकृति के पर्याय के रूप में समझने की आवश्यकता नहीं है। यह बाल-लीला आज जिस रूप में प्रचलित है, उस रूप में कोई व्यास जैसे महामनीषी को अभिप्रेत हो, यह मानना व्यास की प्रतिभा अथवा मेधा को न समझने जैसी बात है। दीपचंद सेठ की प्रसिद्ध 'बाल वार्ता' में लुटेरे अपने सेठ द्वारा लिखी हुंडी में शून्य जोड़कर इस हुंडी की रकम को दस-दस गुना बढ़ाते जाते हैं। ऐसा ही व्यास के सर्जन में हुआ है। अतः उन बढ़े हुए शून्यों को पहचानकर हुंडी की मूल रकम की शोध करने की यह बात है।

बाललीला के विषय में महाभारत में एक भी अक्षर नहीं है। द्रौपदी के चीर-हरण के समय असहाय द्रौपदी जब कृष्ण को पुकारती है तो उसने जिन संबोधनों का प्रयोग किया है, उनमें एक संबोधन 'गोपीजन प्रिय' भी है। इसके सिवाय महाभारत में गोपियों का उल्लेख कहीं भी नहीं है। राजसूय यज्ञ के समय शिशुपाल ने कृष्ण के अनेक कार्यों की निंदा की है; उसमें कृष्ण के गोपियों के साथ के संबंधों के बारे में एक भी वचन नहीं कहा है। उस समय कृष्ण को गालियाँ देने में शिशुपाल ने कहीं पीछे मुड़कर नहीं देखा और इसपर भी उसने गोपियों की बात का सहज भाव से भी उल्लेख नहीं किया। 'विष्णुपुराण' और 'हरिवंशपुराण'—इन दोनों ग्रंथों के रचना काल के बारे में मतभिन्नता है। इन मत-मतांतरों में कालिदासरचित 'मेघदूत' में कवि ने आकाश में विहार करनेवाले बादलों की मोरपंख से शोभायमान गोपवेशधारी विष्णु के साथ तुलना की है। यह उल्लेख उपयोगी है। गोपवेशधारी विष्णु मात्र कृष्ण का रूप ही है और इस रूप का वर्णन हरिवंश अथवा विष्णुपुराण में ही सबसे प्रथम मिलता है। इसका यह अर्थ है कि ये प्रश्न कालिदास के पहले ही प्रचलित थे। कालिदास का समय ईस्वी सन् पूर्व की दूसरी सदी से ठेठ चौथी सदी के बीच कहीं होगा—ऐसा माना जाता है। इससे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि हरिवंश और विष्णुपुराण लगभग दो हजार वर्ष पुराने तो हैं ही।

विष्णुपुराण में जो गोपी भाव है, वह बहुधा निर्दोष है। इनमें कहीं दैहिक संबंधों की बात नहीं आती। ऐसा प्रतीत होता है कि उम्र में भी ये गोप कन्याएँ कम-ज्यादा किशोर अवस्था में ही होंगी। विष्णुपुराण के पाँचवें अंश के तेरहवें अध्याय में इस रासलीला का वर्णन आता है। कृष्ण की बाँसुरी को सुनकर ये कन्याएँ अपने-अपने घर छोड़कर उतावली के साथ दौड़ी आती हैं। कोई गोपिका बाँसुरी की लय के अनुरूप गीत गाने लगती है तो कोई ध्यानमग्न होकर कृष्ण को देखती रहती है। कोई कृष्ण के नाम का उच्चारण करके शरमा जाती है तो कोई घर के बाहर निकलते समय बड़ों की नजर पड़ते ही पीछे अंदर दौड़ जाती है। इससे अधिक कोई विलासिता उसमें नहीं है।

'हरिवंश' के विष्णुपर्व में जिस रासलीला का वर्णन है, उसमें गोपियाँ चंचल कटाक्ष फेंकती हैं। स्तन से उपसी हुई छाती के साथ कृष्ण को दबाती हैं। इस रासलीला की विलासिता की इतिश्री मात्र इतने उल्लेख से ही हो जाती है। दैहिक संबंधों और स्पर्श-सुख की बात का यहीं प्रवेश होता है।

किंतु 'भागवत' इससे कहीं अधिक आगे निकल जाती है। विलास का उसमें खासा विस्तार हुआ है। दशम स्कंध

के रास पंचाध्याय में ये स्त्रियाँ पतियों तथा पुत्रों तक को छोड़कर आती हैं। यह वर्णन किया गया है कि कृष्ण इन स्त्रियों से भेंट पड़ते हैं; शरीर को स्पर्श करके, स्तन खींचकर, नख की अणि मारकर वह गोपियों के काम को उत्तेजित करते हैं। एक समय कृष्ण जब अदृश्य हो गए तो जो स्तुति गीत गोपियों ने गाया है, उसमें प्रार्थना की गई है कि तुम अपने चरण कमल हमारे स्तन पर रखकर हमारा काम-ज्वर दूर करो।

और विलासिता का चरम उदाहरण 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' ने प्रस्तुत किया है। आजकल की अति सस्ती कोई नवल कथा के किसी भागे हुए और जार कर्म करने वाले स्त्री-पुरुष के आदिम संबंधों की हद तक का वर्णन इस पुराण ने किया है। इस पुराण का रचना काल अनुमानतः दसवीं सदी का होगा। यह प्रतीत हुए बिना नहीं रहता कि इसमें गोपियों के साथ कृष्ण के संबंधों को विलासिता की सीमा का उल्लंघन कर अश्लीलता तक खींच ले जाया गया है। रसप्रद बात तो यह है कि जिसका आज कृष्ण की मूर्ति के साथ वामांगी के रूप में बाईं ओर स्थापन और पूजन होता है, उस राधा के नाम का सबसे प्रथम उल्लेख ब्रह्मवैवर्तपुराण में ही हुआ है। इसके पहले राधा के नाम का स्पष्ट उल्लेख तक नहीं मिलता। जो सबसे अंत में आई है, वह राधा आगे निकल गई है। कृष्ण की सबसे अधिक निकट आज यह राधा ही है।

यह रसप्रद है कि इस राधा को समझने के लिए ही अलग-अलग अर्थ-घटन हुए हैं। राधा नंद के साले रायन की पत्नी थी और रायन कृष्ण के मामा थे। यह माना जाता है कि राधा उम्र में कृष्ण से काफी बड़ी थी। किंतु राधा को रूपक रूप में ही स्वीकार करके दूसरी रीति से उसकी गणना की गई है। इसमें कृष्ण की रासलीला मुख्य है। रास मंडल का अर्थ राशि मंडल किया गया है। ये राशियाँ नक्षत्र ही हैं। इन नक्षत्रों की कुल संख्या सत्ताईस है और इस राशि मंडल में—नक्षत्रों के ठीक मध्य में विशाखा नक्षत्र की गणना होती है। नक्षत्रों की गिनती कृतिका से शुरू होती है और बराबर चौदहवाँ नक्षत्र विशाखा है। इस विशाखा का एक नाम 'राधा' है और इस हिसाब से राशि मंडल में—कृष्ण के रास मंडल में बराबर राधा आती है। आकाशीय तत्त्वों के साथ तुलना करके राधा के समझने का यह आभास केवल बौद्धिक चमक जैसा लगता है।

यह अर्थ भी किया जाता है कि कृष्ण की आराधना जिसने अपनी संपूर्णता से की है, वह राधा कोई व्यक्ति विशेष नहीं, बल्कि गुण विशेष है। इसमें से यह सुर निकलता है कि 'आराधना' शब्द से 'राधा' शब्द बना होगा। भागवत के दशम स्कंध के रास पंचाध्याय में कहा गया है कि रासलीला के समय गोपियों की आँखों से जब कृष्ण अदृश्य हो गए और विह्वल गोपियाँ उन्हें ढूँढ़ती हैं तो एक स्त्री के पदचिह्न उन्हें दिखाई देते हैं। अनुमान किया गया है कि यह दूसरी स्त्री, जिसको लेकर कृष्ण तमाम गोपियों से अलग होकर दूर चले गए, राधा ही होनी चाहिए। किंतु यह तो मात्र अनुमान का प्रश्न है। इसमें कहीं स्पष्टता नहीं है।

यह राधा जो भी हो—आज तो राधा के बिना कृष्ण की कल्पना हम कर ही नहीं सकते। कृष्णमय बनने की राधा की क्षमता से ईर्ष्या उत्पन्न होती है। समर्पण और तन्मयता का सर्वोच्च शिखर राधा है। यह राधा जो भी हो, ऐसा नहीं है कि उसके बिना अब हम चल ही नहीं सकते। राधा हमारा आदर्श है कृष्ण को पाने के लिए। जिस कलम अथवा वाणी ने राधा को इस शिखर पर बैठा दिया, वह कलम और वाणी हमारे शतशः नमस्कार की अधिकारी है। राधा के इस परिचय के बिना हम कितने अधूरे रह गए होते, यह तो राधा बिना कृष्ण-दर्शन करें, तभी समझ में आ सकता है।

राधा और गोपियों के साथ कृष्ण के संबंधों को जरा भिन्न, किंतु इस युग की तत्कालीन भूमिका के आधार पर समझने की कोशिश करें। व्रजभूमि के गोपालक मथुरा के स्वेच्छाचारी शासक कंस के अधीन थे। व्रजभूमि की समृद्धि, उसका गोरस मथुरा के राजमहल की ओर बहता था। समय का यह तकाजा था। परिश्रम व्रज के गोपालक

करते थे, गायेँ ब्रजभूमि की थीं और ऐसा होते हुए भी उनका उत्पादन कंस छीन लेता था। इसमें न्याय कहाँ था? कृष्ण ने यह अन्याय देखा। इसका विरोध करने के लिए ब्रज के गोपालकों को उन्होंने समझाया—ब्रजभूमि की समृद्धि, ब्रज के गोपालकों के परिश्रम का सुफल ब्रज में ही रहना चाहिए; जो कुछ भी मेहनत नहीं करता, उसे इसके फल को छीन लेने का अधिकार नहीं। अतः जो भी परिणाम सहन करना पड़े, उसकी तैयारी के साथ कृष्ण ने ब्रजभूमि में वैचारिक क्रांति का बीजारोपण किया।

किंतु इस बीजारोपण के पूर्णरूप से फूलने-फलने के लिए ब्रज की बस्ती की आधी संख्या यानी स्त्रियों को मानसिक रीति से इस क्रांति के लिए तैयार किया जाना चाहिए। यदि स्त्रियाँ इस क्रांति को तैयार न हों तो उसकी सफलता एक स्वप्न बनकर ही रह जाएगी। (स्वतंत्रता संग्राम में गांधीजी ने स्त्रियों को जिस प्रकार प्रमुख स्थान दिया था, इसकी उसके साथ तुलना की जा सकती है।) इसके लिए स्त्रियों के समूह में पहुँचने के लिए कृष्ण ने रासलीला को एक निमित्त बनाया हो, यह विचार वस्तुतः आकर्षक है। राधा अथवा अन्य कोई भी प्रमुख ब्रज-कन्या इस कार्य का भार उठा ले तो स्वाभाविक रीति से ही वह कृष्ण के निकट आएगी।

इस प्रकार यह अनुमान किया जा सकता है कि कृष्ण ने रासलीला स्त्री जागृति के एक कदम के रूप में प्रचलित की हो।



कालिय नाग का फण : उस समय और आज भी

श्रीकृष्ण की बाललीला के विषय में महाभारत में तो एक अक्षर भी दृष्टिगत नहीं होता, किंतु 'हरिवंश' के विष्णुपर्व में कुछ अध्याय इस बाललीला का वर्णन करते हैं। 'श्रीमद्भागवत' में इस बाललीला का विस्तार हुआ है। भागवत का स्तंभ ही कदाचित् यह बाललीला है। इस बाललीला को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से समझने-समझाने का यत्न अलग-अलग चिंतकों, विचारकों, मनीषियों ने किया है। बाललीला के चमत्कारों के सूचितार्थ एवं संकेतों के विषय में भिन्न-भिन्न अर्थ-घटन भी हुए हैं। इस तमाम बाललीला को योग के साथ जोड़ने के प्रयत्न भी हुए हैं। भागवत का यह प्रकरण भागवत को लोक-भोग्य बनाता है तो इसके साथ ही विद्वानों की कड़ी कसौटी भी करता है। सिद्धांतों की इस कसौटी का एक श्लोक में सुंदर रीति से वर्णन किया गया है—

धनंजये हारक सम्परीक्षा,
महारणे शस्त्रधृतां परीक्षा,
विपत्तिकाले गृहिणी परीक्षा,
विद्यावतां भागवते परीक्षा।

जिस प्रकार सोने की कसौटी अग्नि होती है, गृहिणी की परीक्षा विपत्ति में होती है, उसी प्रकार विद्वानों की परीक्षा—वे जब भागवत का वाचन करते हैं, समझते हैं और समझाते हैं—तब होती है।

इस बाललीला में रासलीला एवं कालिय नाग का मर्दन और गोवर्धन पर्वत धारण करने की घटनाएँ अन्य घटनाओं से सहज ही अलग प्रकार की हैं। पूतना-वध; धेनुकासुर, प्रलंब दैत्य, अघासुर, तृणासुर आदि के नाश के कृत्य कृष्ण के स्वरक्षा के लिए कृत्यों के समान हैं। कंस ने कृष्ण की मृत्यु के लिए जो भी कदम उठाए, उन्हें निष्फल बनाने के ये प्रतिकारात्मक उपचार हैं। रासलीला इनमें ठीक ही भिन्न प्रकार की है और हम इससे पहले उसका थोड़ा परीक्षण कर चुके हैं। कालिय नाग और गोवर्धन धारण करने से प्रसंग में तो इंद्र की शत्रुता कृष्ण ने आगे होकर आमंत्रित की, ऐसी आफत कहा जा सकता है। कालिय नाग कोई कृष्ण का शत्रु न था। कृष्ण यमुना की धारा में से अपनी गेंद लेने गए और वहीं कालिय नाग के साथ मुकाबला हुआ, यह बात असल में कहीं नहीं है। हम जिस गेंद के बारे में जानते हैं, यह तो नरसिंह मेहता की प्रभातियों का काम है। मित्रों के साथ खेलते हुए गेंद धारा में जा पड़ी और उसे लाने के लिए कृष्ण पानी में कूद पड़े। अति आनंद मनाते नागराज को जगाने के लिए नागपत्नी उसके चरण दबाती है, मूँछ मरोड़ती है, यह कल्पना प्रशंसा की पात्र है; फिर भी परास्त पति को मुक्त करने के लिए नागिन विलाप करती है, यह भजन गाने के लिए अच्छा है। बालकृष्ण की संभावित हत्या के पाप से उबरने के लिए नागिन कृष्ण को सवा लाख रुपए मूल्य के हार का लालच भी भजन में देती है।

किंतु हरिवंश या भागवत में यह गेंद की बात बिलकुल नहीं है। कृष्ण स्वयं आगे होकर ही कालिय नाग का मर्दन करने के लिए कदंब वृक्ष की टहनी से धारा में कूदते हैं, यह कथा इन दोनों ग्रंथों में है। परास्त पति की पत्नी नागिनें कृष्ण की जो स्तुति करती हैं, वह घटना भी हरिवंश में नहीं है—मात्र भागवत में यह है। धारा में कूद पड़ने के कारण दोनों ग्रंथों में एक ही हैं। यमुना के जल को इस नाग ने जहरीला कर दिया था। इस जलराशि का कोई उपयोग नहीं कर सकता था। यमुना के बहते पानी के प्रवाह का एक भाग इस प्रकार प्रतिवंचित रहे; जिनके लिए इस जलराशि का निर्माण हुआ, वे इसके किनारे पर रहनेवाले लोग उसका उपयोग न कर सकें, ऐसी स्थिति कालिय नाग ने उत्पन्न कर दी थी। यह असह्य था।

हम कालिय नाग पर कृष्ण की इस विजय को इस संदर्भ में समझने और आँकने की कोशिश करें।

जल-समृद्धि एक प्राकृतिक देन है। इस प्राकृतिक देन पर अधिकार उसके किनारे पर बसे हर किसीका एक सरीखा ही हो सकता है। आज भी गंगा अथवा सिंधु नदियों का उद्गम स्थल भारतीय प्रदेश में है; किंतु उस पानी का विभाजन भारत-पाकिस्तान-बांग्लादेश के बीच समझौते के द्वारा ही होता है। यूरोप की कोई-कोई नदी तो अनेक देशों की सीमाओं को पार करके बहती है। इन तमाम देशों की प्रजाओं के बीच में यह जलराशि बाँटी जाती है। यदि कोई इसे अपनी पूर्व संपत्ति समझकर उपयोग करे तो इसमें विनाशक प्रश्न भी उत्पन्न होते हैं। देश-देश की अथवा राज्यों की सीमाएँ किसी धरती पर नहीं, नक्शों पर ही हैं और नदियाँ किसी नक्शे को देखकर नहीं बहतीं। नदियों का बहाव पहले बना है और नक्शे उसके बाद बने हैं।

कालिय नाग, नरसिंह मेहता के कथनानुसार, सहस्रों फण फुफकारता है; मानो आकाश में हाथी चिंघाड़ रहे हों। इस प्रकार हजारों फणोंवाले सर्प की कल्पना चमत्कार जैसी है। हरिवंश और भागवत में भी उसकी सर्प के रूप में पहचान कराई गई है। हरिवंश में इसे पाँच मुखोंवाला कहा गया है, पाँच गुणोंवाला नहीं। यह स्वीकार करने के बाद ही इस कालिय नाग को नाग जाति के किसी समर्थ सरदार के रूप में ग्रहण करने से इस घटना का मानवीय पहलू अति आकर्षक बन जाता है। नाग जाति का उल्लेख महाभारत में और अन्यत्र बार-बार आता है। अर्जुन ने नाग-कन्या उलूपी के साथ विवाह किया था, यह इस संदर्भ में याद रखने लायक है। यह अनुमान अधिक आकर्षक और बुद्धिगम्य लगता है कि कालिय नाग इस जाति का कोई शक्तिशाली सरदार था और जलराशि के प्राकृतिक उपयोग के देव दत्त सिद्धांत के विरुद्ध उसने यमुना के किसी विभाजन को अपनी पैतृक मिल्कीयत मानकर किसी अन्य को उसका उपयोग न करने दिया हो। कृष्ण इस बात को कैसे सहन कर लेते। जो जोते उसकी जमीन, ये बातें हम आज भी करते हैं। किंतु पीए उसका पानी, यह कृष्ण ने उस समय कहा हो, यह स्वाभाविक अर्थ-घटन लगता है। जल-समृद्धि पर कोई कालिय नाग अपना फन फैला नहीं सकता, चाहे यह जलराशि यमुना की हो अथवा नर्मदा की।

पराजय के बाद कालिय नाग को यमुना का प्रवाह छोड़कर समुद्र में चले जाने की सूचना श्रीकृष्ण देते हैं। यह सूचना स्वीकार करके कालिय नाग ने यमुना के जल से अपना प्रभुत्व छोड़ दिया। उसके लिए इसके अलावा कोई दूसरा विकल्प ही न था। वह पराजित था। विजेता ने उसे जीवनदान दे दिया, यह गनीमत कहना होगा।

कालिय नाग के साथ ही यह शत्रुता और इस रीति से कदाचित् समग्र नाग जाति के साथ कृष्ण ने एक प्रकार का प्रभाव अनायास बनाया है, ऐसा एक प्रसंग आगे आता है। खांडव वन में नाग जाति बसती है। यह खांडव वन युधिष्ठिर की नई राजधानी इंद्रप्रस्थ के निकट, उसके द्वार पर ही है। राजधानी की सीमाओं को घेरे हुए यह गहन वन बना रहे तो उसमें शत्रु निर्भयतापूर्वक बस सकते हैं और युद्ध जैसे प्रसंग पर भय उत्पन्न कर सकते हैं। इस दृष्टि से खांडव वन को साफ करना आवश्यक हो सकता है। इंद्रप्रस्थ के भारी विकास के लिए अधिक सपाट भूमि प्राप्त करने की दृष्टि से ही यह खांडव वन साफ करना अनिवार्य था। इस स्थूल आवश्यकता की पूर्ति के लिए यह कथा है कि अर्जुन ने कृष्ण की प्रेरणा से खांडव वन को जला दिया और इसमें बसे हजारों नाग जीवित जलकर मर गए। जो लोग युद्ध नहीं करते थे, ऐसे नागों को इस प्रकार अग्नि में जला डालने के कार्य का धार्मिक बचाव आज तक तार्किक रीति से संभव नहीं हुआ। यह संभव है कि कालिय नाग के व्यवहार की कृष्ण के बाल मानस पर जो छाप पड़ी होगी, उसने भी इस हत्याकांड में योग दिया हो।

□

तर्जनी अँगुली पर गोवर्धन धारण

तर्जनी अँगुली पर गोवर्धन धारण किए कृष्ण का चित्र इतना अधिक रमणीय है कि असंख्य बार देख चुकने के बाद आज भी उसका दर्शन दर्शक को अद्भुत सृष्टि में ले जाता है। ब्रज में आज हम जिसे 'गोवर्धन पर्वत' कहते हैं, वह एकाध मध्यम कद की टेकरी विशेष नहीं; किंतु हरिवंश में इसका कद पाँच कोस लंबा और एक कोस चौड़ा बताया गया है। (एक कोस बराबर दो मील भी है) महाभारत में शिशुपाल ने इस गोवर्धन को दीमकों का घर जैसा नगण्य कहा है। शिशुपाल ने कृष्ण द्वारा गोवर्धन धारण करने के कार्य को तुच्छ बताने के लिए ऐसा कहा है, अतः इसकी अत्योक्ति के कारण यह समझ में आने योग्य है।

कृष्ण ने इंद्र के प्रकोप से ब्रज की जनता और गोवर्धन को बचाने के लिए गोवर्धन को तर्जनी अँगुली से उठा लिया और इस कारण जो स्थान खाली हुआ, उसके नीचे वे सब दस दिन तक वहाँ रहे, ऐसी कथा है। इंद्र के प्रकोप के लिए उचित कारण कृष्ण ने दिया। यह घटना वर्षा ऋतु पूरी होने के बाद शरद् के आगमन के साथ हुई है। इस विषय में भागवत और हरिवंश एक मत हैं; जबकि विष्णुपुराण में इस घटना के बारे में भिन्न-भिन्न आलेख मिलते हैं। शरद् ऋतु का काल आया, तब यह घटना हुई। यह अंश पाँचवें अध्याय का दसवें श्लोक का है; जबकि इसी अध्याय के चौबीसवें श्लोक में लिखा है कि वर्षा ऋतु के प्रारंभ काल में गोपालकों ने इंद्रपूजा की तैयारी की। लगता है कि दो में से एक कम-ज्यादा चौबीसवाँ श्लोक प्रक्षिप्त है। वर्षा का देव इंद्र है और इस इंद्र की कृपा से वर्षा द्वारा सृष्टि धन-धान्य से झुक जाती है; किंतु घास हो और घास से तृप्त होकर गायें पुष्कल दूध दें तथा इस कृपा के लिए इंद्र का उपकार मानने के लिए ब्रजवासी उनका पूजन करें, यह कुल-परंपरा थी। जब इस इंद्रपूजा का कारण पूछते हैं तो हरिवंश के कथनानुसार, एक वृद्ध गोपालक और भागवत के कथनानुसार पिता नंदलाल उन्हें यह बात समझाते हैं। इसमें बादलों के परस्पर टकराने से भीषण-गर्जना होती है, इस वैज्ञानिक सत्य का उल्लेख भी हुआ है। नंदलाल तो यहाँ तक कहते हैं कि जो लोग पारंपरिक कृतज्ञता व्यक्त नहीं करते हैं, वे धर्म का त्याग करते हैं और दुःख पाते हैं।

इस इंद्रपूजा के विरुद्ध गिरिपूजा करने के लिए कृष्ण सब ब्रजवासियों को समझाते हैं। इसके लिए कृष्ण यह दलील भी देते हैं कि जो प्रजा जिस व्यवसाय को करती है, उस व्यवसाय के साधन की ही पूजा करनी चाहिए। चार प्रकार की वैश्यवृत्ति कही है—इसमें खेती-बाड़ी, व्यापार, गो-पालन और ब्याज-बट्टा मुख्य हैं। ब्रजवासियों का दैवत गो-पालन है, अतः गायें ही उनका मुख्य आधार मानी जाती हैं। इन गायों का पूजन ही धर्म माना जाता है और इन गायों को धान्य-प्राप्ति पर्वतों से होती है, अतः पर्वत ही पूजनीय माना जाता है। कृष्ण यह दलील भी देते हैं कि ब्रजवासी तो पर्वत के बालक हैं और पर्वत हमारा-निवास स्थान है। इसलिए वर्षा तथा धान्य-तृण आदि के लिए इंद्र का नहीं, पर्वत का ही उपकार मानना चाहिए। इतनी समझाइश करने के बाद कृष्ण उन सब गोपालकों को धमकी भी देते हैं कि 'यदि तुम मेरी बात मानकर इंद्रपूजा बंद और गिरिपूजा शुरू नहीं करोगे तो मैं ऐसा करने के लिए तुम्हें बाध्य करूँगा। तुमसे ऐसा जबरदस्ती कराऊँगा।'

इस समझाइश से सहज भिन्न दिखाई देनेवाली कर्म के सिद्धांत की बात भागवत में कही गई है, हरिवंश में नहीं। कृष्ण कहते हैं कि हम जो कुछ प्राप्त करते हैं, वह हमारे कर्म का फल है; ईश्वर भी कर्म के अधीन है। कर्म न करनेवालों को वह कुछ नहीं दे सकता और कर्म करनेवालों से कुछ छीन नहीं सकता। हमें जो कुछ वर्षा अथवा धान्य-तृण आदि मिलता है, वह कर्म का फल है। इंद्र भले ही वर्षा का देवता माना जाता है, किंतु कोई इससे उसकी

पूजा करने की आवश्यकता नहीं है।

कृष्ण की इस दलील के संदर्भ में अनेक वर्षों के बाद जो 'गीता' का उद्बोधन हुआ है उसमें, तीसरे अध्याय 'कर्मयोग' के १०-११-१२ श्लोकों का कथन देखने जैसा है। ये श्लोक इस प्रकार हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्तेस्तेन एव सः ॥

पहले यज्ञ सहित प्रजा का सृजन करके ब्रह्मा ने कहा—'इन यज्ञों से तुम वृद्धि प्राप्त करो, ये तुम्हारी इच्छित कामनाएँ पूरी करनेवाले हैं। इन यज्ञों से तुम देवों को संतुष्ट करो और वे देव तुम्हें संतुष्ट करेंगे। तुम परम कल्याण प्राप्त करोगे। परस्पर संतुष्ट करने के कारण यज्ञ से संतुष्ट हुए देव तुम्हें इच्छित भोग देंगे। उनके द्वारा प्रदत्त भोगों को उन्हें पीछे न लौटाकर जो स्वयं ही भोग करते हैं, वे चोर ही हैं।'

इस प्रकार देवपूजा यज्ञ द्वारा देव की कृपा से जो प्राप्त होता है, उसकी कृतज्ञता प्रकट करने की स्पष्टता यहाँ है। इसमें यज्ञ, पूजा आदि से संतुष्ट हुए देव पूजा करनेवालों को इच्छित फल देकर संतुष्ट करें और इस प्रकार परस्पर संतोष का यह चक्र सतत घूमता रहे, यह विभावना है। देव को तुष्ट किए बिना उपभोग करना चोरी करने जैसा हीन कर्म माना गया है।

और ऐसा होने पर भी बालकृष्ण ब्रजवासियों को इंद्रपूजा करने से रोकते हैं, इंद्र के अलावा गिरि का पूजन भी करने का आदेश नहीं देते और गिरिपूजा का आग्रह करते हुए भी इंद्रपूजा का विरोध कितना उग्र है कि इसके लिए प्रमुख ब्रजवासियों पर जबरदस्ती करने की धमकी तक वह देते हैं। कृष्ण के व्यक्तित्व में ऐसी उग्रता, विवेक की सीमा छोड़ देने को हठाग्रह और कहीं देखने को नहीं मिलता।

इंद्र के प्रकोप के बाद धुआँधार वर्षा के कारण डूब रहे ब्रजवासियों को उबारने के लिए कृष्ण ने गोवर्धन उठा लिया। सामान्यतः वर्षा से बचने के लिए लोग ऊँचे भाग पर दौड़ जाते हैं और नीचे भरे हुए पानी से बचने की कोशिश करें, यह समझा जा सकता है। किंतु गोवर्धन उठा लेने से जो गड़ढा हुआ, उस निचले भाग में ब्रजवासियों का अपनी गायों के साथ रहने की बात यहाँ है। जल के वेग और प्रवाह के विरुद्ध यह लक्षण है। फिर भी ऊँची उठाई हुई पर्वत की शिलाएँ खिसक रही थीं, वृक्ष टूट रहे थे, ऐसे वर्णन भी मिलते हैं। इन संयोगों में टेकरी के नीचे किस प्रकार सुरक्षा प्राप्त हो, यह प्रश्न पैदा होता है। (पर्वत उसके मूल से जुदा होता ही नहीं, यह प्रश्न उक्थानीय है) कारण, कृष्ण ने ब्रज में जो कुछ किया है, वह प्रकटतः मनुष्य शक्ति के बाहर का ही काम है; अतः यह पर्वत उठाया गया होगा, यह मान भी लें तो भी आनुषंगिक प्रश्न तो उठते ही हैं। तो फिर इस गोवर्धन धारण का दूसरा कोई संकेतार्थ होगा। इस संकेत की खोज की जानी चाहिए।

इंद्रपूजा का विरोध व्यक्तिपूजा का विरोध था। इस प्रकार इसे समझाने की कोशिश कहीं हुई है। किंतु इंद्र कोई मात्र व्यक्ति नहीं, वह तो वर्षा का देव है; अतः इस पूजा में तो पारंपरिक कृतज्ञता ही व्यक्त करने की बात है। कंस की व्यक्तिपूजा के साथ इंद्र की व्यक्ति की पूजा की तुलना नहीं की जा सकती।

यह संभावना है कि इंद्रपूजा में यज्ञ के होम के रूप में गाय अथवा गाय के वंश का बलिदान किया जाता था। यह सुनिश्चित है। अतः ब्रज में होनेवाली इंद्र पूजा में भी इस परंपरा का अनुसरण किया जाना संभव है। गाय अथवा गो-

वंश की ऐसी हत्या कृष्ण किस प्रकार सहन कर सकते थे! उनका प्रकोप प्रज्वलित हो ही उठे और इस क्रोध के आवेश में उन्होंने ऐसी इंद्रपूजा रोकने के लिए आवश्यक होने पर सब बल-प्रयोग करने की धमकी दी हो, तो यह तर्कसंगत लगता है। फिर भी 'गोवर्धन' शब्द में जो 'वर्ध' शब्द है, उसका अर्थ 'काटना' भी होता है, अतः गाय को काटने का स्थल—यह अर्थ भी इसमें से निकल सकता है।

प्रथम दृष्टि से गोवर्धन के लिए ऐसा अर्थ-घटन आघातजनक लगता है। किंतु इस तथ्य का समर्थन करनेवाला एक श्लोक महाभारत में मिलता है। कर्ण मद्र देश के लोगों की टीका करते हुए कहते हैं कि मद्र देश में 'गोवर्धन' नाम का वट है और वहाँ शीलरहित प्रजा शराब पीती है, लहसुन खाती है तथा गो-मांस का भक्षण करती है। इस प्रकार इस वट का नाम घृणापूर्वक लिया गया है और इसका अर्थ गायों की हत्या करने के स्थल के रूप में हुआ है। (कर्णपर्व)

अतः इसका अर्थ यह होता है कि जिस स्थान पर इंद्रपूजा के निमित्त गाय तथा गो-वंश का बलिदान होता था, वहीं कृष्ण ने गायों का पूजन शुरू करवाया। गोपालकों के लिए गाय ही उनका देवता है, और इसलिए मनुष्य जिस-जिस व्यवसाय से जीविका प्राप्त करता हो, उस साधन की पूजा करनी चाहिए। ऐसी जो दलील प्रारंभ में कृष्ण ने दी है, वह यहाँ सार्थक होती है। इस प्रकार गायों की हत्या के स्थान पर ही कृष्ण ने गोवर्धन अर्थात् गायों का वर्धन, अर्थात् आवृद्धि करनेवाला पर्वत बना दिया। कृष्ण ने गो-पूजन किया और इस प्रकार गो-वंश का वर्धन अर्थात् गोवर्धन नामाभिधान हुआ हो, यह भी तर्क शुद्ध प्रतीत होता है।

इसके सिवाय कृष्ण कंस के हत्यारे के भय से सतत घिरे हुए थे। किस दिशा में से शत्रु किस रूप में प्रहार करेगा, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। ऐसे संयोग में एक ओर समर्थ शत्रु को आमंत्रित करने के पीछे कोई तार्किक भूमिका दिखाई नहीं देती। मृत्यु से घिरे होने पर भी कृष्ण ने एक ऐसा अपकृत्य देखा हो तो चाहे जिस परिणाम का सामना करना पड़े, कृष्ण को लगा होगा कि इस अपकृत्य को तो रोका ही जाना चाहिए। कृत्य सहन कर लें तो कृष्ण कैसे? पारंपरिक हो तो भी जिस स्थल के संदर्भ में अब अनुरूपेण न हो तो इसका नया अर्थ-घटन होना चाहिए। कृष्ण परंपरावादी न थे, क्रांतिवादी थे।

वर्षा ठहर जाने के बाद गोवर्धन को स्वस्थान रखने के बाद इंद्र ने कृष्ण का महत्त्व स्वीकार कर जो स्तुति की है, उसमें भागवत और हरिवंश अलग होते हैं। भागवत में इस स्तुति के बाद कृष्ण पर दूध का अभिषेक करते हैं, हरिवंश में स्वयं इंद्र कृष्ण को गंगाजल से अभिसिक्त करते हैं। इसके अलावा हरिवंश में इंद्र कृष्ण को स्वयं ही कुंती के पुत्र अर्जुन को जन्म देने की बात कहते हैं और इस अर्जुन का सतत रक्षण करने का कृष्ण के पास से वचन भी लेते हैं। इसके जवाब में कृष्ण ने यह वचन तो दिया ही, यह भी कहा कि कुंती के कर्ण सहित छहों पुत्रों के जन्म की बात जानते हैं और भावी युद्ध का अनुमान तक यहाँ देते हैं।

समग्र कथानक के अंत में बिलकुल छोटी किंतु कृष्ण के उत्तमांश को प्रकट करनेवाली एक बात का उल्लेख है। इंद्र की स्तुति के बाद व्रजवासी कृतज्ञतापूर्वक कृष्ण के प्रति आभार की भावना व्यक्त करते हैं। कृष्ण ने उनका जो उपकार किया है, उसके बदले में कुछ माँगने-देने की बात करते हैं तो कृष्ण कहते हैं कि मुझे मात्र अपनी प्रीति देना। कृष्ण को और कुछ नहीं चाहिए। कृष्ण के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने का मार्ग मात्र उनके लिए अविरत प्रीति प्रकट करना है।

वर्षों बाद खांडव वन दहन की जो घटना हुई है, वह भी इस संदर्भ में साथ ही देखने जैसी है। दहन से बच जानेवाले मयदानव ने कृष्ण के प्रति आभारवश होकर कुछ माँगने के लिए कहा, तो कृष्ण ऐसा ही वचन माँगते हैं—'अर्जुन का प्रेम मुझे सतत मिलता रहे।'।

कृष्ण को परमात्मा के रूप में स्वीकार कर लें तो परमात्मा को प्राप्त करने की उत्तम किंतु सबसे सरल चाबी स्वयं कृष्ण ने हमारे हाथ में यहाँ दे दी है। ईश्वर को प्राप्त करने के लिए प्रेम से उत्तम दूसरा कोई मार्ग नहीं है। इस घटना का एक दूसरा ही मर्म समझने जैसा है। इंद्रपूजा व्रजवासियों के लिए एक धर्म था। एक भावना थी। इस भावना का खंडन कर कृष्ण ने उन्हें एक अधिक बलवान् भावना दी कि किसी प्रजा का ऐसे किसी-न-किसी उपकरण के बिना कार्य नहीं चला। धर्म, मान्यता, भावना—यह सब सापेक्ष हैं। किसी भी पूजा की भावना, फिर भले ही वह जर्जरित हो, व्यर्थ हो, बुद्धिहीन हो, उसके खंडन करने का अधिकार मात्र उसी मुट्ठी ऊँची रखनेवाले व्यक्ति को है, जो उसकी जगह नई अधिक सबल भावना का निर्माण कर सके। तुम नई श्रद्धा न दे सको तो पुरानी श्रद्धा छीनकर प्रजा को श्रद्धाविहीन नहीं कर सकते। कृष्ण ने तत्कालीन प्रजा को बलवत्तर श्रद्धा दी।



यह राजमार्ग रहस्य-प्राप्ति का नहीं

कृष्ण की जीवन-यात्रा को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। पहला भाग कंस-वध के साथ समाप्त होता है। यह भाग यों तो संक्षिप्त है, कम-ज्यादा यह चौदह वर्ष से अधिक नहीं लगता है। कंस-वध के समय कृष्ण की आयु कहीं ग्यारह वर्ष और कहीं सात वर्ष भी कल्पित की गई है। अधिकतर विद्वानों ने इस समय कृष्ण की आयु चौदह वर्ष के आसपास अनुमानित की है। इन मत-मतांतरों में यह वध मर्यादा कहीं भी चौदह वर्ष से अधिक नहीं आँकी गई। देह-विलय के समय कृष्ण की आयु एक सौ पच्चीस वर्ष होगी, यह धारणा उनके जीवनकाल के कार्यों तथा संबंधित घटनाओं के बारे में उल्लेखित समय के आधार पर की गई है। इस प्रकार एक सौ पच्चीस वर्ष में से प्रथम चौदह वर्ष की आयु संख्या की दृष्टि से नगण्य ही कही जा सकती है। कृष्ण का अवतार-कार्य अथवा युगकर्म का आरंभ कंस-वध से ही हुआ कहा जा सकता है। कंस-वध के बाद कृष्ण आर्यावर्त के एक छोटे गाँव गोकुल के एक सामान्य गोपाल पुत्र नहीं रहते, वह उस समय आर्यावर्त पर छा जाते हैं। इस प्रकार लगभग एक सौ वर्ष से अधिक के समय में इन कृष्ण को युगपुरुष प्रस्थापित किया। इन वर्षों के कृष्ण के प्रचंड कार्यों की तुलना में आरंभ के चौदह वर्षों की बाललीला सामान्य ही कहनी होगी।

किंतु चौदह वर्ष की बाललीला ने उसके बाद के सैकड़ों वर्षों में जितने लेखकों, कवियों, कलाकारों को आकर्षित किया है, उतना आकर्षण उस युगपुरुष के युगकार्यों ने कदाचित् नहीं किया। बाललीला के बारे में जितना लिखा गया है उतना उनके युगकर्मों के बारे में नहीं लिखा गया। महाभारत कृष्ण के युगकर्मों का ग्रंथ है; किंतु महाभारत ने जिसका उल्लेख तक नहीं किया, उस बाललीला के बारे में उसके बाद के लेखकों ने पुष्कल लिखा है। इस आकर्षण को धर्म अथवा संप्रदाय की सीमाओं ने स्पर्श नहीं किया। मध्य युग के रहीम, दादू अथवा रसखान जैसे विधर्मी कवियों ने कृष्ण की बाललीला का पेट-भर गान किया है। आज भी 'हरे कृष्ण, हरे कृष्ण' कहते हुए तन-मन का भान गवाँ देनेवाले विदेशी और विधर्मी दोनों प्रकार के सैकड़ों व्यक्ति हरे कृष्ण सोसायटी में दिखाई देते हैं। इन सबकी दृष्टि के सम्मुख अधिकतर कृष्ण की बाललीला ही होती है।

जिस बाललीला ने इस प्रकार सख्याबंध सर्जकों को सैकड़ों वर्षों से जकड़ रखा है, उसका एक प्रसंग गोपियों का चीर-हरण है। स्नान करती गोपियों के नदी के तट पर पड़े वस्त्रों का कृष्ण ने अपहरण किया और उन वस्त्रों की गठरी लेकर समीप के कदंब के वृक्ष पर चढ़ गए—यह कथा भागवतकार की देन है। महाभारत में तो स्वाभाविक रूप से इसका उल्लेख नहीं हुआ है; किंतु हरिवंश में भी इस घटना के बारे में कुछ नहीं लिखा गया। ब्रह्मवैवर्तपुराण में इस कथानक का सविस्तार वर्णन हुआ है।

मनचाहा पति पाने के लिए कुमारिकाएँ कात्यायिनी व्रत तो आज भी करती हैं; व्रज की कुमारियाँ यह व्रत हेमंत ऋतु में करती हैं। (हाँ, ऋतु-परिवर्तन कब और कैसे हुआ होगा?) भागवत में लिखा है कि ये गोपियाँ कुमारिकाएँ थीं और कृष्ण को पति के रूप में पाने के लिए यह व्रत करती थीं। ब्रह्मवैवर्तपुराण लिखता है कि गोपियाँ हेमंत ऋतु के कारण काम-पीड़ित हो जाने से कृष्ण को पति रूप में पाने के लिए यह व्रत करती हैं। ये दो दृष्टिभेद ध्यान में रखने योग्य हैं। यह सहज है कि कुमारिकाएँ पति रूप में किसी आदर्श का पूजन करें। काम-पीड़ित कन्या जब किसी पुरुष को ऐसे आदर्श से स्मरण करती है तो उसका अवमूल्यन होता है, ब्रह्मवैवर्तपुराण ऐसे अवमूल्यनों से भरा हुआ है।

नदी तट से कृष्ण गोपियों के वस्त्र लेकर जब कदंब के वृक्ष पर चढ़ गए, तब अकेले न थे, अन्य गोप-बाल भी

साथ थे। हालाँकि कथाकारों ने यह बात नहीं कही। निर्वस्त्र स्नान कर रही गोप-कन्याएँ अपने वस्त्र लौटा देने की कृष्ण से विनती करती हैं तो कृष्ण गोपियों को पानी से बाहर आकर वस्त्र ले जाने को कहते हैं। भागवत कहता है कि और कोई रास्ता न होने से ये कन्याएँ बाहर तो आईं, किंतु लज्जा के कारण उन्होंने अपने दोनों हाथों से अपने गुप्तांग ढक लिये। यह देखकर कृष्ण ने उनसे कहा कि 'निर्वस्त्र होकर स्नान करके जल देवता का अपराध किया है, अतः जब तक दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम नहीं करोगी तब तक मैं तुम्हें वस्त्र नहीं लौटाऊँगा।' इसका अर्थ स्पष्ट है। जल देवता के इस अपराध के बारे में ब्रह्मवैवर्त पुराण मौन है। वह तो मात्र गोपियों को हाथ जोड़कर खड़े रहने की कृष्ण की सूचना का ही उल्लेख करता है। इतना ही नहीं, वह तो लिखता है कि कृष्ण की इस सूचना को सुनकर गोपियों में जो एक राधा भी थी, वह तो और अधिक काम-पीड़ित हो गई। भागवतकार के कथनानुसार— गोपियाँ तो हाथ जोड़कर खड़ी रहीं; लेकिन उनकी अक्षत योनि देखकर कृष्ण प्रसन्न हुए और वस्त्र लौटा दिए।

प्रथम दृष्टि से ही यह कथन बिलकुल बेहूदा प्रतीत होता है। गोपियों को नगनावस्था में ही अपने पास बुलाने और पास आने के बाद हाथ जोड़कर खड़े रहने की सूचना और अंत में उनकी अक्षत योनि को देखकर प्रसन्न होने की बात में कहीं भी बालसुलभ निर्दोषिता नहीं और नटखट तूफान भी नहीं। निर्वस्त्र स्नान जल देवता का अपराध है, यह उल्लेख ध्यान में रखने योग्य है। 'मनुस्मृति' ने निर्वस्त्र स्नान का निषेध किया है। आज भी भारतवर्ष में जो गुजरी पीढ़ी के व्यक्ति हैं, उन्हें यह निर्वस्त्र स्नान की कल्पना सहज ही नहीं आती। वे लोग तो बाथरूम में भी कुछ वस्त्र लपेटकर ही स्नान करते हैं। पुरुष जब इस प्रकार स्नान करते हों, तो सार्वजनिक जलाशय जैसे स्थान में स्त्रियाँ निर्वस्त्र स्नान करती हों, यह बात संस्कृति अथवा परंपरा के सहज ही अनुकूल नहीं प्रतीत होती। यह समग्र घटना किसी रसिकजन ने बाद में जोड़ी होगी। औसत मनुष्य के लिए भागवत में जो रहस्य समाया हुआ है, जो भक्ति-मार्ग तथा भाव के आवरण के नीचे ज्ञान की गहराई है, उसके तट पर तो जाने के लिए ऐसी सस्ती युक्ति का आश्रय बाद के कथाकारों ने लिया हो, यह बुद्धिग्राह्य प्रतीत होता है। ऐसी बात से औसत मनुष्य भागवत की ओर आकर्षित होगा, यह अनुमान किया जा सकता है।

अवश्य ही इसके बाद इस घटना को एक रूपक मानकर भिन्न-भिन्न प्रकार से उसका मूल्यांकन होता रहा है और एक सस्ती युक्ति तथा क्षेपक मानने के बदले उसके पीछे भाँति-भाँति के हेतवारोपण विद्वानों ने किए हैं। 'गीता' में कृष्ण का एक वाक्य है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्,' अर्थात् मुझे जो कोई जिस भाव से भजता है, उसे मैं उस भाव में मिलता हूँ। इस कथन का आश्रय लेकर गोपियों के इस व्रत और इस कथानक को समझाने का प्रयत्न भी हुआ है। ऋषि कश्यप की पत्नी दिति ने भगवान् को पुत्र में भजा था। अतः उनकी कोख से भगवान् ने जन्म लिया था। इसी प्रकार ये गोपियाँ कृष्ण को अर्थात् भगवान् को पति के रूप में भजती थीं। हमारी सांस्कृतिक परंपरा के अनुसार स्त्री के लिए पति से बढ़कर और कुछ नहीं होता। अतः पति को प्राप्त करना सर्वस्व का समर्पण गिना जाता है। इस अर्थ में कृष्ण के समक्ष इन गोप-कन्याओं ने सर्वस्व का समर्पण किया। इस सर्वस्व में मात्र वस्त्र ही नहीं, गुप्तांग खुले करके लज्जा तक त्याग दी। लोकाचार की लज्जा का भी त्याग करे, उसीको कृष्ण की प्राप्ति होती है; यही इस रूपक का रहस्य है, ऐसी दलीलें दी गई हैं। भगवान् और भक्त के बीच कुछ भी आच्छादन नहीं हो, तभी दोनों एक रूप में होते हैं, ऐसा संकेत भी इसमें से निकाला गया है।

इन दलीलों के बुद्धिवाद को स्वीकार करें तो भी इस कथानक का कृष्ण के अवतार-कृत्य के साथ जो सातत्य है, उसके साथ संगति नहीं बैठती। स्थिति यह है कि इसमें निर्दोषिता खोजने के लिए दीपक लेकर प्रकाश करना पड़ेगा, ब्रह्मवैवर्तपुराण तो स्पष्ट लिखता है—ये गोप-कन्याएँ काम-पीड़ित थीं। भागवत की कथा में भले ही वे काम-पीड़ित न हों; किंतु कृष्ण ने जिस प्रकार उन्हें गुप्तांगों से हाथ हटाकर प्रणाम करने की सूचना दी—वास्तव में तो वे गोप-

कन्याओं को विवश करते हैं और बाद में उनकी अक्षत योनि देखकर प्रसन्न होते हैं, यह बात पढ़कर सहृदय भावुक व्यक्ति का मन कुछ प्रसन्न नहीं होता, यह स्वीकारना ही पड़ता है।

परमात्मा को पाने के लिए लोकाचार की लज्जा का त्याग करना चाहिए, इस दलील के संदर्भ में ही वर्तमान सदी में जार्ज बर्नार्ड शॉ के संबंध में पढ़ी एक घटना सुनने योग्य है। ईसाई धर्म के किसी संप्रदाय में साध्वियों के स्नान के लिए चर्च की तरफ से 'बाथिंग कास्च्युम' अर्थात् स्नान के समय पहनने की विशेष पोशाक दी जाती थी। शॉ को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने चर्च के पादरी से पूछा—'फादर, बाथरूम में ये साध्वियाँ स्नान करें, उस समय इस पोशाक की क्या जरूरत?'

'बाथरूम की बंद दीवारों के बीच ईश्वर तो हैं ही, भाई।' फादर ने समझाया। 'इस ईश्वर की आँखों के सामने भी साध्वियों को निर्वस्त्र नहीं रहना चाहिए।'

'ऐसा!' शॉ ने अपनी स्वाभाविक तीखेपन से कहा—'जो ईश्वर बाथरूम की चार दीवारों के बीच में साध्वी को निर्वस्त्र देख सकता है, वह ईश्वर क्या इन स्त्रियों की देह और पोशाक के बीच वातावरण में नहीं होता?'

गोपी चीर-हरण की इस घटना में कहीं ऐसी ही बेसमझी रही हो, ऐसा प्रतीत होता है। भागवत में रहस्य को पाने के लिए यदि यह राजमार्ग हो तो इसके रचयिता के भागवतकार होने की संभावना कम है।



कृष्ण की कर्मभूमि : द्वारका

मथुरा से द्वारका का भौगोलिक अंतर सैकड़ों किलोमीटर है। तीन या साढ़े तीन हजार वर्षों पहले इतना बड़ा अंतर सरल तो हो नहीं सकता। जरासंध के आक्रमणों से त्रसित होकर यादवों ने मथुरा का त्याग किया और बसने के लिए आर्यावर्त के पश्चिम में—इस युग में जिस प्रदेश का उल्लेख आनर्त के रूप में हुआ है, इस विस्तार में—नए नगर का निर्माण किया। यादवों की यह नई बस्ती ही द्वारका थी।

महाभारत के सभापर्व में कृष्ण ने युधिष्ठिर के सामने कहा कि 'यादवों ने किन संयोगों में मथुरा का त्याग किया। जातिजनों के साथ स्वयं मथुरा से पलायन किया। वह मथुरा जरासंध के आक्रमणों से छिन्न-भिन्न हो गया था—हमारे युद्ध के साधन कृश हो गए हैं, अब यह नगरी शत्रु का घेरा सहन नहीं कर सकती।' इस प्रकार विकट कृष्ण से कहता है—'मथुरा युद्ध के कारण कितना नष्ट-भ्रष्ट हो गया था, इसकी विगति इस प्रकार है। खाद्य सामग्री खत्म हो गई है। हम दुर्बल हैं; नगरी अब किलों से सुरक्षित नहीं है; आयुधों का भंडार भली प्रकार सुधारने योग्य है।' आदि वर्णन मथुरा की जर्जरित दशा और यादवों में व्याप्त हताशा का सूचन करता है। इस विषय में भागवत में कहा गया है कि यद्यपि जरासंध के सभी आक्रमणों को कृष्ण ने बलराम के साथ रहकर विफल कर दिया था और उसके बाद कालयवन जब जरासंध की मदद से दूसरी दिशा में चढ़ आया तो कृष्ण ने और अधिक संहार व्यर्थ मानकर नई बसावट के लिए द्वारका का निर्माण किया था। विष्णुपुराण का कथन बड़ी हद तक भागवत से मिलता है।

कृष्ण की युद्ध-मीमांसा का सर्वप्रथम दर्शन यहाँ होता है। कृष्ण जीवन के ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जिनमें कृष्ण ने यथासंभव युद्ध से दूर रहना पसंद किया है। गीता में पार्थ से 'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः'—यह स्पष्ट सूचन करनेवाले कृष्ण ने अपने जीवन में निरर्थक हिंसा का हमेशा विरोध किया है। महायुद्ध के आरंभ में महायुद्ध को रोकने के अंतिम प्रयास के रूप में कृष्ण स्वयं दूत बनकर शांति का संदेश लेकर जाते हैं। विराट नगर में जब द्रुपद आदि पांडव पक्ष के राजा युद्ध का समर्थन करते हैं, तब भी तो कृष्ण यही सलाह देते हैं कि युद्ध नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, यदि युद्ध होगा तो वह स्वयं हिंसा नहीं करेंगे, ऐसा भी कहते हैं। द्रौपदी स्वयंवर में जब सब राजा अर्जुन को मार डालने के लिए उद्यत होते हैं तो कृष्ण ने युक्तिपूर्वक इस युद्ध का निवारण किया है। शिशुपाल-वध के पूर्व वह चुपचाप सहन करते जाते हैं—इस अपेक्षा से कि यदि शिशुपाल का रोष स्वयं शांत हो जाता है तो हत्या से बचा जा सकेगा। जरासंध, जो भीम के हाथ से गदा युद्ध में मारा जाता है, इसके पहले भी कृष्ण उसे कैद में पड़े राजाओं को छोड़कर इस संघर्ष को टालने का विकल्प सूचित करते हैं। इस प्रकार कृष्ण युद्ध अथवा हिंसा को विकल्प के रूप में ही स्वीकार करते हैं।

कृष्ण की युद्ध के प्रति इस दृष्टि के संदर्भ में उनका मथुरा-त्याग को देखा जाना चाहिए। कृष्ण ने तय किया होता तो सब यादव उनके साथ रहकर जरासंध से लड़े होते। यह सही है कि मथुरा अशक्त हो गया था और विकट ने आड़े-टेढ़े तरीके से कृष्ण को मथुरा त्यागने की सूचना भी दी थी, ऐसा होने पर भी उसने सबकुछ कृष्ण के निर्णय पर छोड़ दिया था। हमने पहले देखा है कि इस प्रकार कालयवन आर्यावर्त की तत्कालीन सीमाओं के उस पार की शक्ति है। सिंध देश तत्कालीन आर्यावर्त के मामलों में हस्तक्षेप करता नजर नहीं आता। कृष्ण की दूरगामी राजनीति का यह एक अति सुंदर उदाहरण है। जरासंध से तो बाद में समझ लिया जाएगा, एक बार इस कालयवन की विपत्ति दूर होने दो—यह विचार करके कृष्ण ने मथुरा का त्याग किया—यादवों को अधिक सुरक्षित बसावट सुलभ करने के लिए ही नहीं, कालयवन का नाश भी उन्हें अभिप्रेत था। इस दोहरे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने नए प्रदेश पर

दृष्टि दौड़ाई।

यह दृष्टि द्वारका पर क्यों स्थिर हुई?

महाभारत में द्वारका का जो वर्णन स्वयं कृष्ण ने किया है, उसके अनुसार तो यह नगरी रैवतक पर्वत के पास है। उसमें समुद्र का उल्लेख नहीं है। पर्वत पर के दुर्ग की बात है। यह लिखा है कि रैवतक पर्वत पर द्वारका के रक्षक रहते थे। इस वर्णन के अनुसार यदि हम रैवतक को गिरनार मानें तो द्वारका का स्थान जूनागढ़ के आसपास होगा। दुर्गाप्रसाद शास्त्री जैसे प्रखर इतिहासवेत्ता के मतानुसार जीर्ण दुर्ग अर्थात् जूनागढ़ के आसपास ही द्वारका की बसाहट होगी। मुंबई गजेटियर भाग-१ के अनुसार तो द्वारका पंजाब में कहीं होने के बारे में शंका प्रकट की गई है। (हरिवंश में द्वारका समुद्र से घिरी हुई होने की बात लिखी है। इसके साथ ही यह भी लिखा है कि उसकी पूर्व दिशा में रैवतक पर्वत था। अनेक पुरातत्त्ववेत्ताओं का मत है कि रैवतक गिरनार नहीं, पोरबंदर के आसपास के पृष्ठभाग की पहाड़ियाँ हैं। इसके समर्थन में पोरबंदर के पास समुद्र किनारे स्थित रेवतीकुंड तथा रेवतेश्वर महादेव के मंदिर का उल्लेख किया गया है। कृष्ण ने समुद्र के पास से बारह योजन भूमि माँग कर विश्वकर्मा द्वारा इस नगरी का निर्माण कराया। इस बात का उल्लेख विष्णु पुराण, भागवत तथा हरिवंश में है। ब्रह्मवैवर्तपुराण के अनुसार, द्वारका सौ योजन की थी। यह पुराण विश्वसनीय नहीं है। यह होते हुए भी नगर के निर्माण के समय विश्वकर्मा कृष्ण से पूछते हैं कि कौन से वृक्ष किस दिशा में कौन से भवन के पास रखे जाएँ। इसके उत्तर में कृष्ण ने अति रसप्रद तरीके से विस्तार से समझाया है कि नगर अथवा भवन के निर्माण में वृक्षों का क्या स्थान है। यह बात मात्र वास्तुकला के लिए ही नहीं, वनस्पतिशास्त्र के अभ्यासियों के लिए भी उपयोगी है।

एक ऐसी कथा भी है कि आनर्त प्रदेश बलराम को उसके श्वसुर पक्ष के राजा रेवत की ओर से अपनी पुत्री रेवती को कन्यादान में मिला था। राजा रेवत के पिता का नाम आनर्त है। यह आनर्त मनु और दिवस्वान का पुत्र है। रेवत के पुत्र कोई नहीं था, अतः रेवती का बलराम के साथ विवाह करके आनर्त प्रदेश, जिसका मुख्य नगर कुशस्थली था, कन्यादान में दिया था। यह महाभारत व हरिवंश सभी ने स्वीकार किया है। यह कुशस्थली रैवतक पर्वत के पास थी, इस बारे में दो मत नहीं हैं। तो फिर यह द्वारका कौन-सी?

अंत में, दो-एक वर्ष पहले नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ ओशनोग्राफी के पुरातत्त्वविदों ने बेट द्वारका के समुद्र तट पर लगभग पच्चीस-तीस फीट पानी के नीचे से साढ़े तीन सौ फीट लंबी दीवार खोज निकाली है। यह दीवार अनुमानतः साढ़े तीन हजार वर्ष पुरानी है। वैज्ञानिक शोधकर्ताओं ने यह सिद्ध कर दिया है। अनुमान किया जाता है कि यह दीवार द्वारका के डूब गए दुर्ग की है। जब मार्तिकावर्त का राजा शाल्व द्वारका पर चढ़ आता है, तो द्वारका के मार्ग को जोड़नेवाले पुलों को यादवों ने तोड़ डाला था, ऐसा एक श्लोक महाभारत में मिलता है। इस प्रकार द्वारका समुद्र में थी—पानी से घिरी हुई थी, यह सिद्ध होता है।

द्वारका की भौगोलिक स्थिति ही ऐसी है कि उस काल में वह यादवों को पूरी सुरक्षा दे सकती थी। जलमार्ग से कोई आक्रमण होना संभव न था और भूमिमार्ग से रैवतक पर्वत, चाहे वह गिरनार हो अथवा समुद्र के पृष्ठभाग की पहाड़ी, शत्रु से रक्षा कर सकता था। इस प्रकार व्यूहात्मक दृष्टि से द्वारका का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। कृष्ण की युद्धनीति के लिए यह स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

हरिवंश कहता है कि कृष्ण ने विकट्रु की सूचना को स्वीकार करके बलराम के साथ अकेले ही मथुरा का त्याग किया, जिससे जरासंध उन्हें पलायन करते देख सके। भागते कृष्ण की हत्या करने के लिए जरासंध उनके पीछे दौड़ पड़े और इस प्रकार से मथुरा नगरी बच जाए। गोमंत पर्वत—यह सहाद्री होने का अनुमान है—पर जरासंध ने कृष्ण को जीवित जला देने के लिए सारे पर्वत में आग लगा दी; तथापि कृष्ण एवं बलराम बच गए। वहाँ से निपटकर वे

कुशस्थली गए और जरासंध मगध वापस गया। कुशस्थली को द्वारका में बदलने के बाद अब अन्य यादव वहाँ आए थे। महाभारत में स्वयं कृष्ण ने कहा है, उसके अनुसार तो सभी यादव धन-धान्य लेकर एक साथ ही मथुरा त्यागकर कुशस्थली आए थे। कृष्ण की कर्मभूमि द्वारका बनने के बाद मथुरा के बारे में जानने को प्रायः कुछ भी नहीं मिलता।



कृष्ण और द्रौपदी : परम सख्य कथा

जोहन डाउसन नामक एक विद्वान् द्वारा संपादित और लंदन से प्रकाशित 'क्लासिकल डिक्शनरी' अर्थात् 'शास्त्रीय कोश' की छठी आवृत्ति का वर्ष १९२८ है। इस ग्रंथ में यह पहली बार कब प्रकाशित हुआ, इसका कोई वर्ष मिलता नहीं। १९२८ में प्रकाशित हुई यह छठी आवृत्ति है। इस बात को देखते हुए सहज ही यह अनुमान हो सकता है कि यह इसके पूर्व पचास-पचहत्तर वर्ष अवश्य हुए होंगे। इस हिसाब से लगभग सौ-सवा सौ वर्ष पहले प्रकाशित हुए इस ग्रंथ में बलराम के बारे में टिप्पणी में संपादक इस प्रकार लिखते हैं—'जिस प्रकार कृष्ण को स्त्रियाँ प्रिय थीं, उस प्रकार बलराम को मद्य प्रिय था।' कृष्ण के बारे में इस निरीक्षण में संपादक का क्या अभिप्राय होगा, यह हम जानते नहीं। कृष्ण की रासलीला, कृष्ण की सोलह हजार एक सौ आठ पत्नियों के बारे में मान्यता आदि के बारे में हम पहले थोड़ी चर्चा कर चुके हैं और यह सोलह हजार एक सौ आठ तो विचारने जैसा मुद्दा ही नहीं। स्व. बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय ने अपने ग्रंथ 'श्रीकृष्ण चरित्र' में इन सोलह हजार एक सौ स्त्रियों और विष्णुपुराण के अनुसार, एक लाख अस्सी हजार पुत्रों की संख्या को लक्ष्य में रखकर कृष्ण के आयुकाल का हिसाब लगाया है। यह आयुकाल एक सौ पच्चीस वर्ष है। यह देखते हुए प्रतिवर्ष एक हजार चार सौ चालीस पुत्रों का जन्म हुआ होगा; अर्थात् नित्य के चार पुत्र होते हैं। शेष रही आठ स्त्रियों की बात। इन आठ स्त्रियों के नाम मिलते हैं। कदाचित् यह संख्या नौ भी हो सकती है। इन सबकी संतति की संख्या की सविस्तार सूची भी मिलती है। यद्यपि ये सब नाम समान नहीं हैं। मौसलपर्व के तीसरे अध्याय में कृष्ण की एक पत्नी का नाम 'गांधारी' था, यह भी उल्लेख है; किंतु अधिकांश में रुक्मिणी, सत्यभामा और जांबवती—ये तीन नाम ही व्यापक प्रमाण में हैं।

किंतु इसके अतिरिक्त दो स्त्रियाँ ऐसी हैं, जो कृष्ण की पत्नियाँ नहीं हैं और ऐसा होने पर भी कृष्ण के सबसे अधिक निकट हैं। इनमें राधा का तो कोई अस्तित्व ब्रह्मवैवर्तपुराण के अतिरिक्त किसी ग्रंथ ने स्वीकार नहीं किया है और ब्रह्मवैवर्त पुराण स्वयं ही विश्वसनीय नहीं, अतः राधा मूर्त की अपेक्षा अमूर्त अधिक है। कदाचित् यह कोई व्यक्ति नहीं, केवल एक कल्पना है। कृष्ण को प्राप्त करने की सर्वोत्कृष्ट कल्पना ही कदाचित् राधा।

किंतु दूसरी स्त्री के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह दूसरी स्त्री अर्थात् द्रौपदी। द्रुपद राजा की यह कन्या पाँच पांडवों की साझी पत्नी है। साझी पत्नी का ऐसा उदाहरण और कहीं नहीं मिलता है। अर्जुन ने तो इसे स्वयंवर में प्राप्त किया और यह पाँच भाइयों की पत्नी बनी। स्वयंवर में उपस्थित रहकर पहली ही बार महाभारत में दिखाई देनेवाले कृष्ण इस प्रसंग में पहली बार पांडवों के और इस प्रकार द्रौपदी के परिचय में आते हैं। इसके पहले कृष्ण पांडवों से भी कभी मिले नहीं थे, तो द्रौपदी से मिलने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। द्रौपदी स्वयंवर के समय द्रुपद के निमंत्रण पर उपस्थित हुए कृष्ण के साथ बलराम, उद्धव, कृतवर्मा आदि थे ही; किंतु प्रद्युम्न और सांब जैसे पुत्र भी थे। इस प्रकार उस समय कृष्ण की आयु, यह मान लिया जा सकता है कि चालीस के आसपास होगी। यह प्रतीत होता है कि इस समय कृष्ण अथवा किसी यादव ने द्रौपदी को प्राप्त करने का सहज ही प्रयत्न नहीं किया।

महाभारत के आदिपर्व में अनुक्रमणिका दी गई है। उसमें श्लोक १२५ इस प्रकार है—'प्राथावानर्जुनः कृष्णां कृत्वा कर्म सुदुष्करम्' अर्थात् दुष्कर काम करके अर्जुन ने द्रौपदी से विवाह किया—अर्थात् मात्र अर्जुन ने ही विवाह किया।

यदि इस अर्थ-घटन को स्वीकार करें तो द्रौपदी पाँचों भाइयों की साझी पत्नी बनी होने की बात का संकेत पूर्णतया उठ जाता है। इस अनुक्रम में कोई क्षेपक होने की संभावना शून्यवत् है। इस प्रकार जो बाद के पर्वों की बात नहीं

माने तो समग्र महाभारत के केंद्र को ही नए सिरे से विचारना पड़ेगा। द्रौपदी, इस गर्विता मानिनी ने, राजसूय यज्ञ के प्रसंग में 'अंधे का पुत्र तो महाअंध ही होता है,' ऐसा न कहा होता तो आर्यावर्त कदाचित् विनाश से बच गया होता। द्रौपदी के इस उपालंभ में द्रुपदतनया तथा पांडवपत्नी दोनों के आभिजात्य की कमी खटकने जैसी है। द्रौपदी ने पाँच भाइयों से विवाह किया, इस विषय में लग्न के पूर्व द्रुपद, युधिष्ठिर, कृष्ण तथा वेद व्यास के बीच जो मंत्रणा हुई है, उसमें व्यास तथा कृष्ण द्रुपद को धर्म का सूक्ष्म तत्त्व समझाते हैं। तब युधिष्ठिर कहते हैं कि 'हे राजन्! अर्जुन ने तुम्हारी इस पुत्रीरत्न को प्राप्त किया और हम जो कुछ प्राप्त करते हैं, उसका उपभोग संयुक्त रूप से करना, यह हम पाँचों भाइयों के बीच का नियम है।' यद्यपि इसके बाद भीम, अर्जुन आदि ने सख्याबंध पत्नियाँ कीं; किंतु इन पत्नियों के बारे में युधिष्ठिर द्वारा कथित इस नियम का कहीं पालन नहीं हुआ। वास्तव में, द्रौपदी को देखते ही चारों भाइयों के मुख पर जो लालसा प्रकट हुई थी, वह फूट का कारण न बने, इसलिए ही उसे साझा पत्नी का स्थान दिया गया हो, यह अधिक प्रतीतिजन्य लगता है। यद्यपि यह स्वयंवर की शर्त का खुला उल्लंघन था। कारण, शर्त यह थी कि जो लक्ष्यभेद करेगा, उसे ही द्रौपदी प्राप्त होगी।

यहाँ यह प्रश्न भी होता है कि स्वयंवर के समय पांडवों की और विशेषकर अर्जुन की आयु कितनी होगी? श्रीमती इरावती कर्वे का कहना है कि यह आयु बीस से पच्चीस वर्ष के बीच होगी; किंतु इस संख्या की एक बार पुनः जाँच-पड़ताल होनी चाहिए। कृष्ण जब-जब पांडवों से मिलते हैं तो युधिष्ठिर व भीम को प्रणाम करते हैं, नकुल व सहदेव को आशीर्वाद देते हैं तथा अर्जुन को ही गले मिलाते हैं। इस प्रकार अर्जुन और कृष्ण समवयस्क हों, ऐसा लगता है। युधिष्ठिर कृष्ण से बड़े थे, इस विषय में तो शक ही नहीं है। स्वयंवर में उपस्थित कृष्ण के साथ उनके पुत्र भी हैं, यह भूलने योग्य नहीं है।

द्रुपद से अपमानित हुए द्रोणाचार्य ने हस्तिनापुर के राजकुमारों को विद्याभ्यास कराया। इस विद्याभ्यास के अंत में द्रोणाचार्य ने गुरुदक्षिणा में द्रुपद की पराजय माँगी और अर्जुन ने द्रुपद को परास्त करके यह गुरुऋण चुकाया। इस पराजय के डंक से पीड़ित तथा वैर भावना से प्रेरित द्रुपद ने द्रोणाचार्य का वध कर सके, ऐसे पराक्रमी पुत्र की प्राप्ति के लिए जो यज्ञ किया, उस यज्ञवेदी में से उसे धृष्टद्युम्न और द्रौपदी—ये दो संतानें प्राप्त हुईं। द्रुपद जैसे वीर को परास्त करते समय अर्जुन की आयु बीस वर्ष से कम होगी, यह मानना एक भोलापन होगा। इस पराजय के बाद द्रौपदी का जन्म हुआ हो तो उसकी आयु लग्न जितनी अर्थात् सोलह वर्ष की हो, तो तब तक अर्जुन की आयु पैंतीस से चालीस वर्ष तक अवश्य पहुँच सकती है। इस हिसाब से युधिष्ठिर उस समय सहज ही पैंतालीस वर्ष की आयु प्राप्त होने चाहिए। यदि यह तर्क सच माना जाए तो प्रश्न यह उठता है कि यह आयु लग्न की सीमा को पार कर गई कही जा सकती है। हस्तिनापुर के ये राजकुमार वारणावत जाने के लिए रवाना हुए, इसके पहले ही लग्न की आयु के हो चुके थे। पितामह भीष्म ने इनके विवाह के लिए कोई प्रयत्न किया हो, ऐसा दिखाई नहीं देता। यह कैसे हुआ होगा? सोलह वर्ष की द्रौपदी ने क्या पैंतालीस वर्ष के युधिष्ठिर से विवाह किया होगा? (विवाहित हुई ही है।) गणित पद्धति से कभी-कभी महाभारत के जटिल प्रश्नों को समझाने की चेष्टा करनेवाले विद्वानों के लिए यह एक रसप्रद गणितीय समस्या है।

किंतु यहाँ मूल प्रश्न कृष्ण और द्रौपदी के सख्य का है। यह सख्य विकसित हुआ और विकसित कब हुआ, इस विषय में कोई क्रमबद्ध प्रसंग मिलते नहीं। यह सख्य समुद्र के तल जितना गहरा और आकाश से भी अधिक ऊँचा है, इसके पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। दादा धर्माधिकारी आज स्त्री-पुरुष संबंध की जो सबसे अधिक पवित्र और सर्वोच्च शिखर की कल्पना करते हैं, उसका नाम उन्होंने भ्रातृत्व (ब्रोस्टरहूड) दिया है। 'भाई' और 'बहन' इन दो शब्दों के संयोग से उन्होंने इस 'ब्रोस्टर' शब्द का प्रयोग किया है। दादा धर्माधिकारी की इस ब्रोस्टरहूड विभावना के

मूल में कदाचित् द्रौपदी और कृष्ण के मध्य सख्य में देखा जा सकता है। कृष्ण और द्रौपदी को इस विभावना का जनक और जनेता कह सकते हैं।

इस परम सख्य की मुग्धकर किंतु पावन कथा बाद में।...



कृष्ण, तुम्हारे पेट में पाप है

द्यूत में राजपाट हारकर पांडवों ने द्रौपदी सहित वनवास स्वीकार किया है। इस कथा का पता चलने के बाद कृष्ण पांडवों से मिलने वन गए। राजसभा में अपमानित हुई द्रौपदी वनवास की इस व्यथा से घिरी हुई है। ऐसे समय में कृष्ण को देखते ही द्रौपदी जिस प्रकार वेदनासिक्त हो जाती है, वह सर्वथा निकट आत्मीयता को सूचित करती है। अकल्पित आपत्ति में एकाकी व्यक्ति अचानक किसी आत्मीय व्यक्ति को देखकर जिस प्रकार द्रवित हो उठता है, उसी प्रकार द्रौपदी कृष्ण के सामने चीत्कार कर उठती है। इस चीत्कार में जो हताशा है, वह उस अपमान की नहीं, राजपाट चले जाने की भी नहीं है; किंतु द्रौपदी कहती है—‘हे मधुसूदन! क्या तुम मेरे नहीं हो? तुम्हें ही क्या इसका शोक नहीं होता? तुम भी मेरी उपेक्षा करते हो,’ इसका रहस्य समझने योग्य है। उसके मन में कृष्ण का जो स्थान है—कृष्ण के पास उसका जो अधिकार है, वही यह चीत्कार कराता है। पति मेरे नहीं, पिता-भाई कोई मेरे नहीं; किंतु मधुसूदन! तुम भी...।

यह ‘तुम भी’ अर्थात् मानो शेक्सपियर का वाक्य ‘यू टू’ ही देख लो। अन्य सबसे विशेष कृष्ण हैं। दूसरे सब द्रौपदी को अपमानित होता देख सकते हैं, किंतु कृष्ण इसे कैसे देख सकते हैं? यहाँ कृष्ण द्रौपदी के सबसे अधिक निकट हैं—अर्जुन से भी विशेष।

दुःशासन जब चीर-हरण कर रहा था तो द्रौपदी ने कृष्ण का स्मरण किया है। पितामह भीष्म, तात धृतराष्ट्र, माता गांधारी और पाँचों प्रतापी पतियों से हताश होने के बाद द्रौपदी ने ‘हे कृष्ण! हे गोविंद! हे गोपीजन प्रिय!’ कहकर चीत्कार किया है। ‘मैं तुम्हारी शरण आई हूँ, मेरी रक्षा करो।’ यह कहनेवाली द्रौपदी भक्तिभावना की प्रतीक बन जाती है। जिसे सबसे पहले स्मरण करना चाहिए, उस कृष्ण को उसने सबसे अंत में स्मरण किया है। परमात्मा की शरण सबसे अंत में लेनी चाहिए और सब प्रयास समाप्त हो जाएँ तो शरणागत वत्सल के शरण में जाकर रक्षण माँगना चाहिए, ऐसी ही ध्वनि इसमें प्रकट होती है।

भरी सभा में स्वयं कृष्ण की प्रिय सखी है, इस प्रकार खुली घोषणा करते हुए उसे लेशमात्र भी संकोच नहीं हुआ। धर्मराज युधिष्ठिर ने पहले अपने को दाँव पर लगाया था अथवा पहले उन्होंने द्रौपदी को लगाया था—यह नुकीला प्रश्न बार-बार करते समय कृष्ण की प्रिय सखी हूँ, ऐसा वह सब सदस्यों से कहती है। उस समय कृष्ण बेसुध होकर दौड़ पड़ते हैं, ऐसा महाभारत में कहा है।

उद्योगपर्व के एक दृश्य के विषय में ठीक-ठीक चर्चाएँ हुई हैं। उसमें कहा गया है कि कृष्ण द्रौपदी की गोद में सिर रखकर सोए हुए हैं और अर्जुन सत्यभामा की गोद में पाँव रखकर सोया हुआ है। इस एक उल्लेख के सिवाय, अन्यत्र कहीं भी कृष्ण और द्रौपदी के बीच दैहिक निकटता का कोई संकेत किसी भी जगह नहीं है। उद्योगपर्व की यह वार्ता आत्मा के बीच शरीर का कोई बंधन निरर्थक है—इसका कोई अलग अस्तित्व नहीं रहता, इसका भी संकेत हो सकता है।

वनवास के तेरहवें वर्ष के अंत में विराट नगर में पांडव पक्ष के सब राजा एकत्र होकर—खोया हुआ राज्य किस रीति से प्राप्त किया जाए—इस विषय में मंत्रणा कर रहे हैं, तभी कृष्ण ने अति स्पष्ट शब्दों में युद्ध का विरोध किया है। कृष्ण कहते हैं कि ‘पांडव और कौरव दोनों मेरी दृष्टि में समान हैं।’ ऐसा होने पर भी कृष्ण जब संधि का प्रयास करने के लिए हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान कर रहे होते हैं, उस समय कृष्ण अपना उस अभिप्राय का उल्लंघन कर जाते हैं। हस्तिनापुर जाते समय कृष्ण द्रौपदी से मिलते हैं और द्रौपदी कहती है—‘हे कृष्ण! मैं तुम्हारी सखी हूँ।’

दुःशासन द्वारा खींचे गए मेरे कोरे केशों को भूलना नहीं!’ और जैसे योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं इन बालों को देखकर द्रवित हो जाते हैं। ‘द्रौपदी, तेरे ये बाल दुःशासन के रक्त से ही रँगे जाएँगे!’ ऐसी सांत्वना देते हैं। इस सांत्वना के ये शब्द कृष्ण के संधि इरादों पर छाया न फैलाए तो ही यह नई बात होगी।

किंतु—ऐसी यह द्रौपदी, कृष्ण की प्रिय सखी द्रौपदी, कृष्ण ने जिसके वस्त्र बढ़ाकर उसकी लाज की रक्षा की थी, उसी कृष्ण ने दुःशासन के रक्त से उसके कोरे केशों को रँगने का आश्वासन दिया। यानी युद्ध न करने का निश्चय तक सखी के चेहरे पर व्याप्त व्यथा को देखकर भूल गए थे। इसी वजह से द्रौपदी ने युद्ध के अठारहवें दिन की मध्य रात्रि को कहा, ‘यह मात्र कृष्ण ही उदारता के साथ निभा ले सकते हैं।’ कंस-वध के बाद विकट ने कृष्ण को मथुरा-त्याग करने की सलाह दी थी। उससे अधिक करुण बात द्रौपदी ने कृष्ण को सुनाई है। अठारहवें दिन की मध्य रात्रि को अश्वत्थामा ने पांडवों के शिविर में घुसकर द्रौपदी के सोए हुए पाँचों पुत्रों को मार डाला था। उसके बाद जो विलाप द्रौपदी करती है, वह दृश्य हृदयविदारक है। पाँच पुत्र और छठा भाई धृष्टद्युम्न—छहों व्यक्ति मारे जाते हैं। इस हत्यारे अश्वत्थामा को दंड देने के लिए भीम घोषणा करता है। उस समय कृष्ण युधिष्ठिर से कहते हैं—‘धर्मराज! तुम भीम को रोको; यह काम भीम का नहीं, अर्जुन का है।’ कृष्ण को भीम की शक्ति के बारे में कोई संदेह नहीं; किंतु अश्वत्थामा अब युद्ध के नियमों का उल्लंघन कर चुका है। पिता द्रोणाचार्य ने उसे अमोघ ब्रह्मास्त्र का प्रयोग सिखाया है; और ब्रह्मास्त्रों का प्रयोग कब किया जाए, इस नियम का पालन अब अश्वत्थामा नहीं करेगा, यह कृष्ण जानते हैं। यदि भीम के सामने इस अस्त्र का प्रयोग किया जाए तो भीम उसका प्रतिकार कर नहीं सकेगा और यह अस्त्र व्यर्थ जाए...किंतु नहीं, इसका प्रतिकार तो अर्जुन ही कर सकता है और इसलिए कृष्ण भीम को मना करते हैं।

किंतु रोष, वैराग्नि और व्यथा से लगभग होश गुमाए हुए द्रौपदी यहाँ कृष्ण की इस चेष्टा के विरुद्ध अतिक्षयहीन आक्षेप करती है। भीम को विरत करने से हत्यारा अश्वत्थामा अधिक सुरक्षित स्थान को भाग जाएगा। उसने सोचा कि उसे भाग जाने का समय कृष्ण दे रहे हैं। वह ताना देकर कहती है—‘कृष्ण! तुम्हारे मन में कहीं कोई खोट लगता है। मेरे पाँचों पुत्रों को मरवाकर तुम्हारे भानजे अभिमन्यु के वंशज को ही हस्तिनापुर की गद्दी मिले, कुछ ऐसा ही तुम्हारा इरादा लगता है।’

शरीर बर्फ बन जाए, ऐसा यह भयानक आक्षेप है। एक माता के हृदय से उठी यह चीत्कार है। वह पुत्रों की मृत्यु से सारासार का विचार खो चुकी है। सुभद्रा अर्जुन की दूसरी पत्नी तथा कृष्ण की बहन है और द्रौपदी के मन में सुभद्रा के लिए सौत का भाव दबा हुआ पड़ा है। वह एक स्प्रिंग की भाँति उछलकर ऊपर आ जाता है। इस भाव ने कृष्ण के भाव पर भी मलिन आरोप किया है। द्रौपदी के पुत्रों की मृत्यु हो, तभी पांडवों के पीछे हस्तिनापुर के सिंहासन पर अभिमन्यु की सगर्भा पत्नी उत्तरा की संतान बैठ सके, इस हिसाब से ही कृष्ण ने द्रौपदी के इन पुत्रों को मरवा दिया है—यह कटुवाणी, यह आशंका...मात्र...और वह भी अपनी प्रिय सखी द्रौपदी के मन से प्रकट हुई, इसकी वेदना कृष्ण ही झेल सकते हैं...मुट्ठी से ऊँचे महामानव के सिवाय यह और किसीका काम नहीं।

महायुद्ध की पूर्व संध्या। पांडव और कौरव मेरे लिए एक समान हैं, ऐसी तटस्थता धारण करनेवाले कृष्ण; ‘मैं युद्ध नहीं करूँगा’, ऐसा स्पष्ट विधान करनेवाले कृष्ण इस बंधु प्रिय सखी की अवदशा का स्मरण कर भूल गए थे। द्रौपदी के प्रति भरपूर प्रेम यह सब भुला देता है। इसके लिए इस महामानव, युगपुरुष ने अपने शब्दों को ही थोड़ी देर के लिए भुला दिया है। उसी प्रिय सखी ने पुत्र-हत्या के प्रसंग में अपने पर मलिन भाव का आरोपण किया, यह घटना मानव संबंधों के इतिहास में अनोखा स्थान प्राप्त करेगी।

मध्यकाल के गुजरात के कवि अखा के जीवन में एक उसकी मानी हुई बहन ने अखा की प्रामाणिकता पर टीका

की थी, उसका यह प्रसंग है। बहन को शंका थी कि अखा ने उसके गहनों में असली सोने में गोलमाल किया। बहन की इस शंका से व्यथित होकर अखा भक्त कवि बना और उसने संसार छोड़ दिया। किंतु कृष्ण तो युगपुरुष थे। द्रौपदी के इस आक्षेप को भी उन्होंने करुणा से सहन कर लिया। उन्होंने कर्मभूमि छोड़ी नहीं—अश्वत्थामा को मणिबिहीन करके उत्तरा के गर्भ को संजीवन कर उसे अधिक उजला किया।



दिशा सूचन

‘धर्म’ शब्द का अर्थ जो आज प्रचलित है, उस अर्थ में यह शब्द महाभारत में प्रयुक्त नहीं हुआ है। जगत् की सबसे समृद्ध भाषाओं में से एक भाषा मानी जाने वाली अंग्रेजी भाषा में धर्म का अर्थ ‘रिलिजन’—एक धार्मिक संप्रदाय किया गया है। महाभारतकार के पास इस शब्द का व्याप है और अन्यत्र कहीं मिलता नहीं है।

महाभारत में कृष्ण जब पहली ही बार प्रकट होते हैं, तो तुरंत ही उनके मुख से ‘धर्मतः’ शब्द का प्रयोग होता है। श्रीकृष्ण का यह दर्शन द्रौपदी स्वयंवर के समय हुआ है। इस प्रथम ही दर्शन में कृष्ण के साथ प्रद्युम्न आदि पुत्र भी हैं; अतः इस समय उनकी आयु पैंतीस से अधिक अवश्य होगी, ऐसा श्रीमती इरावती कर्वे का अनुमान है। इसके बाद इस ‘धर्मतः’ शब्द का व्याप कृष्ण के जीवन में अधिक-से-अधिक होता गया है।

मनुष्य ‘धर्मतः’ अर्थात् धर्मानुसार आचरण करे, यह बात सदा-सर्वदा इच्छनीय मानी गई है। किंतु जीवन में कभी-कभी ऐसा होता है कि दो धर्मों अर्थात् इच्छनीय कर्तव्यों में संघर्ष होता है। इसलिए हम ‘धर्मसंकट’ शब्द का उपयोग करते हैं। एक धर्म और दूसरा धर्म जब परस्पर का भेद खत्म कर देता हो, ऐसे एक बिंदु पर एकत्र हो जाता है। जब ऐसा संयोग उपस्थित हो जाता है तब क्या किया जाए? कृष्ण का जीवन-दर्शन इस लाख रुपए के प्रश्न का अति सहजता से हल करता है। कृष्ण के जीवन का यही सबसे अधिक आकर्षक पहलू है। विचक्षण बुद्धि-प्रतिभा और व्यवहारपटुता—ये दो तत्त्व ही इतने आकर्षक हैं कि कदाचित् इसके कारण पिछले सैकड़ों वर्षों से उन्हें मात्र युगपुरुष के रूप में ही नहीं, ईश्वर के अंश के रूप में, स्वयं ईश्वर के रूप में स्वीकार किया गया है। तत्कालीन युग तो इन दो तत्त्वों के कारण उन्हें युगपुरुष के रूप में स्वीकार करें, यह स्वाभाविक है। स्मरण रहे कि यह व्यवहारपटुता कोई आज के स्थूल अर्थ की व्यवहारकुशलता नहीं है। यह विचक्षण बुद्धि और यह व्यवहारपटुता सतत ‘धर्मतः’ के रूप में ही युक्त हुआ है और धर्मतः में जो कुछ आचरण किया है, उसमें कहीं भी स्वहित नहीं, परहित और यह परहित अंत में तो समष्टिगत हित की ओर ले जाता रहा है। कृष्ण ने अपनी यह जीवन-दृष्टि संधि-प्रयास के समय अपने मुख से प्रकट की है। कुल के लिए व्यक्ति का त्याग करना, गाँव के लिए कुल का त्याग करना, देश के लिए गाँव का त्याग करना तथा आत्मा की खातिर पृथ्वी का त्याग कर देना चाहिए। (महाभारत, उद्योगपर्व)

यह जो कहा गया है, उसके पीछे यह धर्म, भावना ही रही है; उसे कुछ संकुचित अर्थ में नहीं देखा जाना चाहिए। व्यापक धर्म की रक्षा के लिए संकुचित धर्म का त्याग करना यही वास्तविक धर्म है और यही कृष्ण का धर्माचरण है।

कृष्ण जीवन के इस पहलू को यथार्थ बतानेवाले थोड़े से प्रसंगों की एक के बाद एक समीक्षा करें।

द्रौपदी स्वयंवर में उपस्थित हुए पांडव तापस वेशधारी हैं। उनकी लाक्षागृह में मृत्यु हो जाने की व्यापक मान्यता है। उनके जीवित होने की जहाँ किसीको खबर नहीं है, वहाँ इन तापस वेशधारी पाँच ब्राह्मणों को समूह के मध्य बैठा हुआ देखकर दूर से ही कृष्ण बड़े भाई बलराम से कान में कहते हैं—‘ये कोई ब्राह्मण तपस्वी नहीं लगते, चेहरे से ये राजपुत्र दिखाई देते हैं। मुझे लगता है कि ये लोग गुप्त वेशधारी पांडुपुत्र ही हैं।’ कृष्ण का यह कथन उनके विचक्षण निरीक्षण का उत्तम नमूना है। इसके पूर्व कृष्ण ने इन पांडुपुत्रों को कभी देखा नहीं। उनके विषय में जो कुछ जाना है, वह मात्र कर्णोपकर्ण ही है। इस जानकारी के आधार पर कृष्ण उन ब्राह्मणों की देह को ‘ये पांडव हैं’—इस प्रकार खोज निकालते हैं। लक्ष्यभेद के पश्चात् जब सभा में उपस्थित, किंतु द्रौपदी को प्राप्त करने में

विफल रहे सब राजा विरोध प्रकट करके युद्ध की चुनौती देते हैं, तब भीम और अर्जुन उनका जवाबी प्रतिकार करते हैं। यह प्रतिकार जिस तरह से होता है, उसमें भीम एक वृक्ष को उसके मूल सहित उखाड़कर और उसे हाथ में उठाकर अर्जुन के पास खड़े हो जाते हैं। यह काम वृकोदर भीम के सिवाय अन्य कोई नहीं कर सकता, इस सहज बुद्धि से कृष्ण पुनः बलराम से कहते हैं—‘बड़े भाई, निश्चय ही ये पांडव ही हैं।’

पांडव जब प्रकट हुए और युधिष्ठिर ने जब कृष्ण से पूछा कि उन्होंने किस तरह पांडवों को पहचान लिया, तो कृष्ण ने सरल भाव से कहा—‘अग्नि की चिनगारी गुप्त नहीं रह सकती।’ किसी दैविक शक्ति से नहीं, किंतु मानव सहज निरीक्षण एवं बुद्धिमत्ता से ही कृष्ण ने पांडवों को खोज निकाला था।

अर्जुन की सफलता और अपनी असफलता से उत्पन्न रोष से भरे हुए राजाओं ने कृष्ण से जो कुछ कहा, इसमें सबसे प्रथम कृष्ण की धर्मसूझ प्रकट होती है। द्रौपदी स्वयंवर की मुख्य शर्त थी मछली की आँख को भेदना। यह लक्ष्यभेद अर्जुन ने किया था। यह धर्मानुसार है। अब उसे द्रौपदी न मिले तो इसके लिए युद्ध करने में धर्म कहाँ था? यह युद्ध धर्म के विरुद्ध था और कृष्ण की यह धर्म-मीमांसा रोष से भरे राजाओं को ठीक निशाना लगाती है। धर्म के विरुद्ध हो, ऐसा कोई युद्ध उस समय के राजाओं को स्वीकार नहीं था। इस प्रकार कृष्ण सहजता से रक्तपात को टाल सके थे।

यहाँ एक बात का उल्लेख करना आवश्यक है। द्रौपदी पाँच भाइयों की संयुक्त पत्नी बनेगी, यह बात मालूम पड़ने पर राजा द्रुपद ने युधिष्ठिर से कहा—‘हे वीर, आप अग्रज हैं और इस न्याय से छोटे भाई का लग्न पहले न करना चाहते हों तो आप ही द्रौपदी को पत्नी के रूप में स्वीकार करें।’ (भीम अनुज है और ऐसा होते हुए भी उसका लग्न द्रौपदी स्वयंवर के पहले ही हो चुका था और वह भी युधिष्ठिर की सम्मति से हुआ था, यह बात याद रखने लायक है। द्रुपद की यह सूचना क्या वास्तव में धर्मतः कही जा सकती है।) द्रौपदी स्वयंवर की शर्त का पालन युधिष्ठिर ने नहीं किया था, अर्जुन ने किया था। विजय की वरमाला क्या तोड़कर और किसीको पहनाई जा सकती है? इसमें द्रौपदी की पसंदगी का प्रश्न ही नहीं उठा। उत्तर में युधिष्ठिर ने जो कहा, वह इस मूल सूचना से ही अधिक प्रश्न पैदा करता है। युधिष्ठिर ने कहा—‘जब कहीं से रत्न की प्राप्ति हो, उसका हम पाँचों भाई साझा उपयोग करेंगे, यह हमारी प्रतिज्ञा है।’ (महाभारत, आदिपर्व)

इस प्रतिज्ञा के अनुसार हम द्रौपदी से विवाह करेंगे। प्रश्न यह उठता है कि क्या रत्नों के भोगने की प्रतिज्ञा को द्रौपदी तक विस्तृत किया जा सकता है? रत्नों का उपयोग स्थूल धन-वैभव के उपयोग तक ही सीमित है, और क्या उसे जीवित स्त्री पर लागू किया जा सकता है? रत्नों के उपभोग के बारे में जो सहमति हुई थी, वह स्थूल रूप से धन-वैभव के बँटवारे तक सीमित बात है और यदि जीवित स्त्री तक उसका विस्तार किया जा सकता है तो फिर उलूपी, चित्रांगदा तथा सुभद्रा के साथ अर्जुन के लग्न और हिडिंबा के साथ भीम के लग्न के समय किसीको इस प्रतिज्ञा का स्मरण क्यों नहीं आया? क्या ये स्त्रियाँ रत्न न थीं?

दूसरा प्रसंग राजसूय यज्ञ का है

इंद्रप्रस्थ की स्थापना हो चुकी थी और पांडवों का शारीरिक विकास हो चुका था। उस समय युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ करने का विचार किया; किंतु इस विचार को असली रूप देने के पहले कृष्ण की सलाह लेना उन्होंने उपयुक्त समझा। कृष्ण की सलाह कितनी धर्मप्रेरित एवं मूल्यवान् होती है, इसका अनुभव युधिष्ठिर तथा सब पांडवों को हो चुका है; अतः यह यज्ञ करने की अपनी योग्यता और इस विषय में आनुषंगिक प्रतिभावों के बारे में युधिष्ठिर कृष्ण से पूछते हैं। इसके उत्तर में कृष्ण ने जो कहा है, उससे एक बार फिर कृष्ण की धर्मबुद्धि तथा विचित्रता प्रकट होती है। कृष्ण ने कहा—‘राजन्! राजसूय यज्ञ करने के लिए आप सबसे योग्य व्यक्ति हैं, इसमें तो कोई शक नहीं; किंतु

आज जो क्षत्रिय राज्यों का उपभोग करते हैं, वे—परशुराम ने जिनकी हत्या की थी—उनसे कहीं अधिक निकृष्ट कोटि के हो गए हैं।' (सभापर्व, अध्याय १३, श्लोक १२)

यहाँ कृष्ण का संकेत जरासंध की ओर है। जरासंध कृष्ण का पुराना वैरी है, यह सच है; किंतु कृष्ण इस पुरानी वैर-भावना से युधिष्ठिर को ऐसा नहीं कहते हैं। ऐसी कोई वैर-भावना कृष्ण के जीवन में कभी कहीं प्रकट नहीं हुई। मात्र व्यापक हित की रक्षा के लिए ही इसने शस्त्राघात किया है अथवा फिर शत्रु का घात कराया है। जरासंध ने छियासी राजाओं के राज्य जीतकर उनके प्रदेशों को अपने राज्य में मिला लिया था। इन राजाओं को उसने कैद में डाल दिया था। राज्य जीतना क्षत्रियों के लिए धर्मानुसार था। किंतु यह विजय तो मात्र सांकेतिक थी। इसमें कहीं कोई प्रदेश खालसा करके अपने राज्य में मिला लेने का सवाल ही नहीं था। यह धर्म-विरुद्ध माना जाता। इसमें भी इतनी बड़ी संख्या में राजा जब तक एक बलवान राजा के कैदखाने में पड़े हों, ऐसे अधर्मी आचरण का निवारण न हो, वहाँ तक युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ किस प्रकार कर सकते हैं? कृष्ण युधिष्ठिर को सबसे प्रथम जरासंध का वध करने की सूचना देते हैं। जब तक जरासंध का वध नहीं होता और उसके कैदखाने में पड़े पूर्ववर्ती राजाओं को मुक्त नहीं करा लिया जाता, तब तक युधिष्ठिर ऐसा नहीं कर सकते, कृष्ण ऐसा स्पष्ट मत देते हैं।

जिस समय और जहाँ भी अब तक मत प्रदर्शित करने का अवसर आता है, वहाँ कृष्ण परस्पर अथवा जिसका एक से अधिक अर्थ निकलता हो, ऐसी कूटनीतिक वाणी का प्रयोग नहीं करते। अपना अभिप्राय वह स्पष्टता से प्रकट करते हैं, फिर भी यह प्रसंग राजसूय यज्ञ का हो, विराट नगर में युद्ध के निर्णय के बारे में हो, सुभद्रा हरण के समय अर्जुन के साथ हो, कुरुक्षेत्र में 'गीता' का ज्ञान सुनाने का हो अथवा और किसी भी तरह का हो, ऐसे सख्याबंध प्रसंग याद किए जा सकते हैं।

किंतु अपना स्पष्ट मत देने के बाद कृष्ण यह आग्रह नहीं रखते कि उनके मत के अनुसार ही होना चाहिए। उन्हें जो कहना होता, उसे कहने के बाद कृष्ण कहते हैं—'हे राजन्! मेरा तो यह मत है कि अब आप स्वयं ही विचार करके जो कुछ योग्य हो वह निर्णय करें।'।

कुरुक्षेत्र के मैदान में धर्म के सूक्ष्म तत्त्व का विवेचन करने के बाद कृष्ण ने अर्जुन से यह बात कही है। 'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'—मैं तुम्हारी शरण आया हूँ। ऐसा कहकर, गांडीव छोड़कर बैठ जानेवाले अर्जुन को कृष्ण ने 'गीता' का उपदेश दिया तो खरा और इस उपदेश के अंत में अर्जुन ने स्वीकार भी किया है—'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत' तुम्हारी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है। किंतु इस कृपा की बात का तत्कालीन असर लंबे समय में विलीन तथा निष्फल सिद्ध हो सकता है, यह कृष्ण जानते हैं। तब वे उस समय भी यही कहते हैं—'यथेच्छसि तथा कुरु'—मेरे कहने जैसा जो कुछ था, वह मैंने तुमसे कह दिया है। अब इस विषय में विचारक तुम्हें ठीक लगे, वह करो।

इस प्रकार कृष्ण अपने स्थान अथवा व्यक्तित्व का लाभ लेकर कोई काम कराते नहीं, मनुष्य की बुद्धि एवं समझ को सच्ची दिशा में प्रेरित करते हैं और फिर जो यह समझ तथा बुद्धि धर्मप्रेरित हो तो योग्य-अयोग्य का निर्णय करने की उठा-पटक वे छोड़ देते हैं। कृष्ण मानव जीवन में प्रकाश फैला सकते हैं। जो मनुष्य आँख बंद ही रखता हो तो यह प्रकाश उसे हजम नहीं हो सकता।

□

दृष्टि : कृष्ण की और धृतराष्ट्र की

पांडव वीर हैं, पराक्रमी हैं, बुद्धिमान हैं और बड़ी सीमा तक धर्मचारी भी हैं ही। जहाँ तक बुद्धिमत्ता का संबंध है, वहाँ तक ज्येष्ठ पांडव युधिष्ठिर के कितने ही आचरण ऐसे हैं, जो बुद्धिमत्ता के मानदंड को बहुत ऊँचा नहीं जाने देते। इसका सबसे नेत्र दीपक उदाहरण द्यूत का प्रसंग है। अपवादस्वरूप कतिपय प्रसंगों को छोड़कर अधिकतर पांडव धर्मचारी रहे हैं। धर्म प्रकटतः यह सच है कि धर्म उनके पक्ष में रहा है। किंतु उन्होंने जो कुछ यश प्राप्त किया है, जो कुछ सफलता प्राप्त की है, उसमें से कृष्ण की प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सहायता को अलग कर दें तो भाग्य से ही कुछ बचेगा। राजसूय यज्ञ कृष्ण की सलाह के अनुसार ही आयोजित किया गया। खांडव वन का दहन तथा इंद्रप्रस्थ की रचना कृष्ण ने ही कराई है। महायुद्ध में तो ऐसे अनेक प्रसंग हैं कि उस समय यदि कृष्ण की कुशाग्र बुद्धि तथा व्यवहारपटुता का लाभ पांडवों को न मिला होता और यह भी धर्म की भूमिका पर ही होता, तो उनका सर्वनाश हो ही चुका होता।

द्यूत खेलना अधर्म है और द्यूत का परिणाम सर्वनाश ही होता है, यह जानते हुए भी युधिष्ठिर द्यूत क्रीड़ा का निमंत्रण स्वीकार करते हैं। द्यूत क्रीड़ा के लिए मंच बनने के बाद भी युधिष्ठिर बोलते हैं कि यह क्षत्रिय का काम नहीं, इसमें नीति नहीं, इसमें अप्रामाणिकता होती है; और फिर शकुनि के आह्वान के उत्तर में कहते हैं—‘ठीक है, जब आह्वान किया जाता है तो मैं पीछे नहीं हटता, जैसा मेरा भाग्य।’ और द्यूत खेलना स्वीकार करते हैं। सबकुछ हारते जाते हैं, वहाँ तक तो ठीक; किंतु द्रौपदी के हारने के बाद वह फिर द्यूत खेलते हैं तो ऐसा लगता है कि उन्होंने मूर्खता की सीमा ही लाँघ दी है। द्रौपदी का वस्त्र-हरण उनकी आँखों के सामने ही हुआ है, दुर्योधन ने जाँघ ठोककर अपनी अधर्म वृत्ति का परिचय खुले रूप में दिया है। शकुनि की द्यूतकला के सामने वह टिक नहीं सकेंगे, इस सत्य का साक्षात्कार उन्हें हो चुका है। महाराज धृतराष्ट्र ने सर्वनाश से डरकर पांडवों को दासत्व से मुक्त किया और इंद्रप्रस्थ का राज्य पीछे लौटाया, और इस प्रकार एक महा भयानक दुःस्वप्न टल गया। इन संयोगों में शकुनि ने एक बार फिर युधिष्ठिर को ललकारा और फिर एक बार तेरह वर्ष वनवास (बारह वर्ष का वनवास तथा एक वर्ष का अज्ञातवास) की होड़ में रखकर दोनों पक्ष एक ही बार खेले, ऐसा सूचित किया। कोई भी समझवाला व्यक्ति अब यह बात स्वीकार नहीं कर सकता; किंतु युधिष्ठिर ने तो तेरह वर्ष के वनवास की शर्त स्वीकार करके द्यूत क्रीड़ा खेलना स्वीकार किया और दूसरे ही क्षण वनवास उनके लिए निश्चित हो गया। शकुनि ने कह दिया—‘जीतम इत्यवने’।

युधिष्ठिर की इस प्रकट मूर्खता के पीछे युधिष्ठिर की धर्मपुरुष की छवि के लिए शोभास्पद न हो, ऐसी एक शठता भी रही है, इसका प्रमाण आरण्यकपर्व के पैंतीसवें अध्याय में मिलता है। युधिष्ठिर के मन में द्यूत खेलने के पीछे ऐसी हीन और शठवृत्ति हो, यह पढ़ते ही प्रतीत होता है कि कदाचित् यह संवाद क्षेपक होगा; किंतु यह संवाद क्षेपक नहीं, असल जयसंहिता में इसे स्वीकार किया गया है। श्री के.का. शास्त्री द्वारा संपादित असल जयसंहिता की आठ हजार एक सौ आठ श्लोकों की जो आवृत्ति है, उसमें भी इस संवाद का समावेश हुआ है।

अरण्यवास के आरंभकाल में एक बार भीम, अर्जुन आदि भाई तथा पत्नी द्रौपदी युधिष्ठिर को द्यूत खेलने के लिए बुरा-भला कहते हैं। हम समर्थ होते हुए भी वनवास क्यों भोगें? और सभी युद्ध करके खोया हुआ राज्य पुनः प्राप्त करने के लिए अधीर हो जाते हैं। ‘वर्ष’ शब्द का एक अर्थ ‘मास’ भी होता है और इसलिए तेरह वर्ष का अर्थ तेरह मास अर्थात् तेरह महीना करने की भीम सलाह देते हैं। तब युधिष्ठिर का धर्मरूप प्रकट होता है। वह कहते हैं—‘द्यूत

खेलते समय मेरे मन में वर्ष अर्थात् मास नहीं, बल्कि बारह वर्ष का ही अर्थ अभिप्रेत था, इसलिए अब इसमें फेर-फार नहीं हो सकता,' किंतु यही धर्मराज स्वयं किसलिए दो-दो बार द्यूत खेले, इसका जो खुलासा देते हैं, यह अति विसंवादी है। युधिष्ठिर कहते हैं—'धृतराष्ट्र के पुत्रों के पास से उनका राज्य और धन हर लेने के इरादे से ही मैंने द्यूत पासों का आश्रय लिया था। परंतु शकुनि ने कपट से मेरा दाँव उलट दिया और हमारी यह हार हुई।'

युधिष्ठिर के इस कथन का अर्थ स्पष्ट है। द्यूत के पीछे उनके मन में एक पाप था। जिस प्रकार दुर्योधन द्यूत के पासों की मदद से पांडवों का सर्वस्व हर लेना चाहता था, उसी प्रकार युधिष्ठिर भी पासों के इस खेल में एक अवसर प्राप्त करना चाहते थे, ऐसा स्पष्ट कथन है। यदि ऐसा हो तो युधिष्ठिर का वह रथ 'नरो वा कुजरो वा' बोलने के बाद चार गज नीचे उतर आया था, तो वास्तव में इस भावना के साथ ही नीचे आ गया कहना होगा।

अरण्यवास में जब कृष्ण पांडवों से मिलते हैं तो पांडवों की इस दुर्दशा के लिए वह खेद प्रकट करते हैं और फिर तुरंत ही कहते हैं—'यदि मैं उस समय उपस्थित होता तो तुम्हें द्यूत खेलने ही नहीं देता' और वास्तव में कृष्ण उस समय वहाँ होते तो द्यूत का प्रसंग हुआ ही नहीं होता। यह एक ऐसा प्रसंग है, जब पांडवों को कृष्ण की सलाह अथवा सहायता उपलब्ध नहीं हुई और इस अनुपस्थिति ने कैसा सर्वनाश किया, इस विषय में किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है।

धर्म-भावना का कितने व्यापक परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करते हैं कृष्ण, इसका एक सरस उदाहरण संधिवात्ता का प्रसंग है। महायुद्ध अनिवार्य बनता जाता है। दोनों पक्ष तलवारें खड़खड़ा रहे हैं। समस्त आर्यावर्त दो पक्षों में बँटकर महाविनाश के मुख में घुसे जा रहे हैं, उस समय युद्ध निवारण के एक अंतिम प्रयास के रूप में स्वयं कृष्ण हस्तिनापुर दूत बनकर जाते हैं। समाधान का यह अंतिम प्रयत्न भी सफल होता दिखाई नहीं देता और दुर्योधन को उसके हठाग्रह से धृतराष्ट्र तो क्या, स्वयं द्रोण अथवा भीष्म भी पीछे नहीं लौटा सकते, यह जान लेने के बाद कृष्ण भरी सभा में कहते हैं, उसकी एक खास बात नोट करने योग्य है। यह बात कृष्ण विशेषकर भीष्म तथा धृतराष्ट्र आदि बड़ों को संबोधन कर कहते हैं—'इस समय कुरुवंश के बड़े पुरुषों के लिए करने योग्य एक ही काम है। तुम सब इस दुर्योधन तथा उसके साथियों को बंदी बनाकर पांडवों के साथ समझौता कर लो,' और अपने इस सूचन के समर्थन में तुरंत कहते हैं—'पूर्व में हमारे कुल में भी ऐसा प्रसंग आया था; यादव कुल छिन्न-भिन्न हो जाए, ऐसा प्रसंग आया था। यह पल कंस के कारण आया था। हमने इस समय यथोचित कदम उठाया और इतने वर्षों से समग्र काल एक यूथ बनकर संपत्ति और ऐश्वर्य को भोग रहा है। हमने जिसके कारण यह पल पाया था, उस कंस का ही नाश किया। कंस को मारकर हम सब यादव पुनः एकत्र हुए। हे कुरुनंदो! तुम भी हमारे दृष्टांत का अनुसरण करके महाविनाश से उबर आओ।'

पिता उग्रसेन को कैद करके कंस ने मथुरा के गणतंत्र का नाश किया, इस इतिहास पर एक क्षण दृष्टि डालनी चाहिए। खासकर कृष्ण के उपर्युक्त विधान के संदर्भ में। कंस सर्व सत्ताधीश बना और तुरंत ही अक्रूर जैसे बड़े यादव उसके समर्थक न बने हों तो भी उसके साथ तो रहे ही थे। फिर सात्यकि एवं भूरिश्रवा—ये दोनों यादव वीर जो कुरुक्षेत्र में एक-दूसरे के आमने-सामने लड़े थे और सात्यकि के हाथों भूरिश्रवा की मृत्यु हुई थी। भूरिश्रवा को सात्यकि ने जिस रीति से मारा, वह धर्म-विरुद्ध था। इस प्रकार उसकी निंदा करके कृतवर्मा ने उस यादवस्थली के पास प्रहार किया है। श्री उपेन्द्रराय सांडेसरा ने सात्यकि के पितामह शिनि और भूरिश्रवा के पिता सोमदत्त के बीच देवकी के लिए युद्ध होने का उल्लेख अपने ग्रंथ 'पूर्णावतार श्रीकृष्ण' में किया है। शिनि और सोमदत्त इसलिए तो अद्धिर, वसुदेव और उग्रसेन की पीढ़ी हुई। इसका अर्थ यह हुआ कि यादवों में तब भी अंतःकलह तो था ही। यह कलह कंस के कारण व्यापक बने, यह संभव है। अमुक यादव कंस के पक्ष में रहे और अन्य सब कैद में डाले

गए। उग्रसेन एवं वसुदेव के पक्ष में रहें तो अगले दिनों में युद्ध अनिवार्य बने और इस युद्ध का अर्थ सर्वनाश होता। समग्र कुल-संहार जिस प्रकार दुर्योधन के पक्ष में रहनेवालों में दो-तीन अथवा दो को छोड़कर कोई दुर्योधन के रुख को न्यायी अथवा धर्मयुक्त मानता नहीं था। इसी प्रकार कंस के पक्ष में रहे अक्रूर आदि के लिए भी कहा जा सकता है। इसका श्रेष्ठ उपाय यही था कि अधर्म के मूल को ही नष्ट कर दिया जाए। कंस का नाश हुआ कि तुरंत ही यादव परिवार एकत्र हो गए और उग्रसेन यादवों के प्रमुख बन गए।

जो यादवों के लिए शक्य हुआ, यह कौरवों के लिए भी शक्य हो सकता था। कृष्ण इस शक्यता की ओर वृद्ध किंतु समर्थ कुरु प्रधानों का ध्यान खींचते हैं। कभी व्यापक हित के रक्षण के लिए ऐसा अरुचिकर काम भी करना पड़ता है। अधिक विशाल धर्म की रक्षा के लिए ऐसी अनुभूति अथवा भावना का बलिदान कर कठिन निर्णय लेना पड़ता है। यह पल यदि चूक जाता है, यदि पल को पहचाना न जा सके तो फिर महाविनाश अनिवार्य बन जाता है। फिर उसे रोका नहीं जा सकता—इसमें से कोई उबर नहीं सकता। कंस की हत्या—सगे मामा की हत्या करने के पीछे भी कृष्ण की भावना और कृष्ण का दर्शन कितना व्यापक था, यह यहाँ बड़े सरस ढंग से प्रकट हुआ है। मात्र कृष्ण ही कर सकते हैं, ऐसा यह दर्शन है।

प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन के परिप्रेक्ष्य में कृष्ण के इस दर्शन का मूल्यांकन करे तो 'ऐसी पल अचूक आई' होने की बात तत्काल समझ में आ सकती है। इस पल को न पहचान पाने के कारण कुरुक्षेत्र के महाविनाश तो नहीं, किंतु जीवन में से कितना अधिक विलुप्त हो गया है, यह समझा जा सकता है। प्रत्येक मनुष्य के लिए कंस की हत्या अथवा दुर्योधन को बंदीगृह में डालना, यह कोई घटना नहीं होती। कंस की हत्या अथवा दुर्योधन को कैद करने की बात एक संकेत है। संकेत के इस पल को जो समझ सकते हैं, वे कृष्ण हैं; जो नहीं समझ सकते, वे धृतराष्ट्र हैं। भविष्य कृष्ण के साथ रहता है; कारण, कृष्ण विशाल धर्म की खातिर प्रकट अधर्म का भी आचरण करते हैं। धृतराष्ट्र इस धर्म को समझ लेने के बाद भी कुछ नहीं कर सकता, कारण—वह नेत्रहीन है।

और यह देखने-समझने के बाद भी कदाचित् विश्व आज सदियों से केवल धृतराष्ट्रों से ही भरा हुआ है।

कृष्ण की इस धर्म दृष्टि के अनुसंधान में महाभारत के एक दूसरे प्रसंग का भी स्मरण कर लें।

महायुद्ध में स्वयं शस्त्र हाथ में नहीं लेकर अर्जुन के सारथि बनने के अलावा युद्ध में स्वयं कोई भाग न लेंगे, ऐसी कृष्ण की प्रतिज्ञा दोनों पक्ष भलीभाँति जानते हैं। अर्जुन-दुर्योधन के बीच यादव शक्ति का विभाजन करते समय युद्ध में कौरव पक्ष में नारायणी सेना रहे और पांडव पक्ष में निःशस्त्र कृष्ण रहें, ऐसी सहमति हुई थी। ऐसा होने पर भी युद्ध के नौवें दिन कृष्ण अपनी यह प्रतिज्ञा छोड़ देंगे, ऐसा क्षण आया था। कौरव सेनापति भीष्म नौ दिन से पांडव सेना का संहार कर रहे थे और कृष्ण को ऐसी प्रतीति हो जाती है कि पांडव सैन्य अब बचेगा नहीं। अगले दिवस ही दुर्योधन पितामह भीष्म पर ताना कसते हुए कहता है कि 'जो तुम पांडवों को पराजित न कर सकते हो तो युद्ध का नेतृत्व कर्ण को सौंप दो।' कर्ण के प्रति पितामह को एक नाराजी है, यह दुर्योधन बराबर जानता है। कर्ण महारथी नहीं, मात्र सूतपुत्र है। ऐसे अपमानजनक वचनों से युद्ध के आरंभकाल में ही भीष्म ने कर्ण को युद्धभूमि के बाहर धकेल दिया था। कर्ण का अर्जुन-द्वेष और पितामह का अर्जुन-प्रेम भी कर्ण की इस अवहेलना के लिए कारणभूत हो सकता है। परंतु दुर्योधन के कटाक्ष के बाद नौवें दिवस जब भीष्म सबसे अधिक विनाश करते हैं और इस विनाश का प्रतिकार अर्जुन पूरी ताकत से नहीं करता, पितामह के विरुद्ध वैसा ही विनाशक युद्ध करने के लिए अर्जुन दृढ़ निश्चयी नहीं होता, गीता के ज्ञान के बाद भी वह पितामह के प्रति मृदु हो जाता है, इसे कृष्ण ने अपनी विचक्षण दृष्टि से देख लिया था। यदि इस प्रकार युद्ध एक ही दिन आगे बढ़ता है तो भीष्म एक भी पांडव सैनिक को बचने नहीं देंगे और कौरवों की विजय निश्चित हो जाएगी। कृष्ण के मन में इस समय धर्मरक्षा का एक अति नाजुक प्रश्न

उठ खड़ा होता है। यदि अर्जुन भीष्म के सम्मुख विनाशक युद्ध नहीं लड़ता तो पांडवों की पराजय होगी और इसका अर्थ धर्म की पराजय और अधर्म की विजय। कृष्ण ऐसा कैसे होने दे सकते हैं? शस्त्र हाथ में न लेने की उनकी प्रतिज्ञा जरूर है; किंतु अपनी इस प्रतिज्ञा का पालन करते हैं और अधर्म की विजय होती है तो उस अवस्था में उनका धर्म क्या है? व्यक्तिगत धर्म की रक्षा के लिए क्या व्यापक धर्म को पराजित थोड़े होने दिया जा सकता है?

कृष्ण एक क्षण का भी विलंब किए बिना भीष्म की हत्या करने के लिए अपनी निःशस्त्र रहने की प्रतिज्ञा एक ओर रखकर, रथ की चाल छोड़कर भीष्म की ओर दौड़ पड़ते हैं। अद्भुत है यह दृश्य। भीष्म और अर्जुन दोनों के लिए कृष्ण का यह आचरण अकल्पित था। अर्जुन के सिवाय मात्र कृष्ण ही उनको परास्त कर सकते हैं, यह भीष्म बराबर समझते हैं और इसलिए कृष्ण को अपनी ओर बढ़ते देखकर वह अपना धनुष ऊँचा करके कृष्ण का स्वागत करते हैं—‘हे पुंडरीकाक्ष! तुमको मेरा नमस्कार है। तुम मेरा वध करो। तीनों लोकों में मैं इससे सम्मानित होऊँगा।’

किंतु अर्जुन असमंजस में पड़ जाता है। कृष्ण प्रतिज्ञा भंग करके पांडवों की विजय के लिए भीष्म का वध करने जा रहे हैं, इसके मूल में स्वयं वह पितामह भीष्म के सामने प्रतिकार नहीं कर रहा है, यह अर्जुन समझ गया है। कृष्ण की प्रतिज्ञा भंग के लिए अर्जुन जिम्मेदार हो, यह उसके लिए असह्य है। वह दौड़कर कृष्ण के पाँव पकड़ लेता है। उसमें इस अपकृत्य के लिए खुद को जिम्मेदार समझने की वृत्ति उछलती है और वह कृष्ण से कहता है—‘हे माधव! तुम प्रतिज्ञाबद्ध हो। आज तुम मिथ्यावचनी न बनो, यह मेरे लिए असह्य है। पितामह के सामने मैं अब भयानक युद्ध करूँगा। तुम पीछे लौट जाओ।’

और कृष्ण पीछे मुड़ जाते हैं।

संभव है, अर्जुन को उकसाने के लिए कृष्ण ने यह कदम उठाया हो। किंतु यदि अर्जुन उकसाया न जाता तो कदाचित् कृष्ण ने अपनी प्रतिज्ञा को भंग करके भी अधर्म की पराजय निश्चित की होती, इसमें कोई संदेह नहीं। यह कहा जा सकता है कि कृष्ण ने व्यक्तिगत धर्म की भावना को दाय पर लगाया था। व्यक्ति की अपेक्षा समष्टि अधिक महान् है और समष्टि के धर्म की रक्षा किसी भी कीमत पर होनी ही चाहिए। यह उज्ज्वल सिद्धांत कृष्ण यहाँ प्रतिपादित करते हैं।



यतो कृष्ण ततो धर्म

महायुद्ध में प्रवृत्त हुई अठारह अक्षौहिणी सेना जिस प्रकार दो पक्षों में विभक्त हुई थी, उसे देखते हुए पहली ही दृष्टि में कौरवों का पलड़ा भारी लगता है। संख्या बल की दृष्टि से ग्यारह अक्षौहिणी सेना कौरव पक्ष में है और सात अक्षौहिणी पांडव पक्ष में। तत्कालीन आर्यावर्त में जिनका कोई मुकाबला न हो सके और जिनके सामर्थ्य के सामने कोई टिक न सके, ऐसे—भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, कर्ण, जयद्रथ तथा शल्य जैसे धुरंधर कौरव पक्ष में हैं। गदायुद्ध में भी दुर्योधन की गणना दुर्धर्ष वीर के रूप में ही होती है। इससे प्रतिपक्षी पांडवों के पक्ष में भीम तथा अर्जुन और बहुत-बहुत तो धृष्टद्युम्न अथवा सात्यकि के सिवाय किसीको कौरव पक्ष के महारथियों के बराबरी के नहीं कहा जा सकता। कृष्ण पांडव पक्ष में हैं; किंतु वह कोई शस्त्रधारी नहीं हैं। इस प्रकार मूल्यांकन की दृष्टि से प्रकटतः ही कौरव पक्ष अधिक समर्थ है तथा यह होते हुए भी कौरव परास्त हुए और पांडव विजयी।

‘यतो धर्मस्ततो जयः’—यह उक्ति हमें इतनी अधिक बार सुनाई गई है कि समस्या समान लगनेवाले उपर्युक्त निरीक्षण का उत्तर तत्काल हमें इस उक्ति में मिल जाता है। यद्यपि महाभारत के पूर्वग्रहरहित और तलस्पर्शी अध्ययन करनेवाले किसी व्यक्ति को यह प्रतीत हुए बिना नहीं रहेगा कि वास्तव में कौरव पक्ष में कितना ही अधर्म था, किंतु पांडव पक्ष में यह नहीं कहा जा सकता कि सब ही धर्म है। दोनों पक्षों में कहीं धर्म का रक्षण हुआ है, तो दोनों ही पक्षों में कहीं अधर्म का आचरण भी हुआ है। जोड़-बाकी करने के बाद लेखा-जोखा से मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि पांडवों के पक्ष में धर्म कुछ अधिक था।

इसलिए ही बलराम की अनिच्छा होते हुए भी कृष्ण ने पांडवों का पक्ष लिया है। बलराम इस युद्ध से अलिप्त रहे। कारण, उन्हें यह प्रतीतिजन्य नहीं लगा कि पांडव पक्ष में यह धर्मयुद्ध है; किंतु इसके साथ ही यदि कृष्ण पांडव पक्ष में हों तो कृष्ण के विरुद्ध कोई पक्ष लेने के लिए तैयार नहीं थे। इस प्रकार वह अलिप्त रहे और इसीलिए ‘यतो धर्मस्ततो जयः’ के साथ-साथ ही ‘यतो कृष्ण ततो धर्म’ यह पूरा चरण बना। जहाँ धर्म हो, वहीं कृष्ण होते हैं और जहाँ कृष्ण हों, वहीं विजय होती है।

यदि पांडव पक्ष को कृष्ण का मार्गदर्शन न मिला होता तो पांडव कभी जीत न सके होते, यह निर्विवाद है। कौरवों के पास जो महारथी हैं, उनमें कहीं एक स्वरता नहीं है। भीष्म और द्रोण जरूर कौरव पक्ष में लड़ते हैं; किंतु पांडवों के प्रति उनकी प्रीति किसीसे छिपी नहीं है। कर्ण के रोष का केंद्र मात्र अर्जुन है। कुरुक्षेत्र में एक बार जब स्वयं युधिष्ठिर ने कर्ण से कहा था कि अपनी मृत्यु होने का अवसर आ जाने पर कर्ण इस पल का उपयोग कर कौरवों को विजयी नहीं बना देते। कुंती को उसने जो वचन दिया था, जब वह उसकी याद दिलाते हैं कि ‘मैं अर्जुन के सिवाय किसीको नहीं मारूँगा’, कुंती ने अपने पाँचों पुत्रों की माता रहना भी पसंद किया...छठे पुत्र को उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया और इसलिए महायुद्ध की पूर्व संध्या कुंती कर्ण को कौंतेय पुत्र रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार होती है, तो कर्ण उसका प्रस्ताव अस्वीकार करते हुए कहता है—‘हे देवी! (वह ‘माता’ शब्द का प्रयोग नहीं करता) तुम पाँच पुत्रों की माता हो और पाँच पुत्रों की ही माता रहोगी...या तो मेरी मृत्यु से अर्जुन अपराजित होगा या अर्जुन की मृत्यु से मैं तुम्हारी कोख में पीछे लौटूँगा। इस प्रकार तुम पाँच पुत्रों की माता ही रहोगी।’

युधिष्ठिर का वध करके कर्ण अपने पक्ष को विजय दिला सकता था; किंतु उसने ऐसा नहीं किया। इसके साथ ही कृष्ण की प्रतिज्ञा की तुलना करने योग्य है। निःशस्त्र रहने की कृष्ण की प्रतिज्ञा थी और ऐसा होने पर भी व्यक्तिगत प्रतिज्ञा का पालन करते हुए भीष्म के हाथों पांडवों का नाश होगा, ऐसा कृष्ण प्रतीत हुआ, तब यह लघु धर्म

त्यागकर बड़े धर्म की रक्षा के लिए दौड़ पड़े। कर्ण ऐसा नहीं करता। अपने पक्ष की विजय की अपेक्षा उसके मन में अपने वचन पालन का मूल्य है। यह अभिगम पांडवों की विजय को समझने योग्य बनाता है। युद्ध के पहले दिवस से ही पितामह भीष्म और कर्ण के बीच मनमुटाव हो जाता है। भीष्म ने कर्ण को सारथि कहकर अपमानित किया और जो ऐसा अपमान करनेवाला भीष्म कौरव सेनापति हो तो वह यह युद्ध नहीं लड़ेगा, यह कहकर कर्ण युद्ध के प्रथम दस दिन बिलकुल अलग चला जाता है। दसवें दिन भीष्म के पतन के बाद ही उसने शस्त्र उठाए। यह दृश्य युद्ध जीत लेने जैसी दूरदर्शिता का नहीं है।

द्रोण अकेले ही पांडवों का संहार कर सकते थे, साक्षात् काल बनकर उन्होंने विनाश किया भी; किंतु जब पुत्र अश्वत्थामा के मरने की खबर उनके कानों में पड़ती है तो वे शस्त्र का त्याग कर देते हैं। इस प्रकार कौरवों की विजय के लिए इसमें कोई अभिगम नहीं है, मात्र व्यक्तिगत मोह ही आगे आ जाता है। द्रोण मानो अश्वत्थामा के लिए ही लड़ते हैं, दुर्योधन की विजय के लिए नहीं। शस्त्रहीन द्रोण धृष्टद्युम्न के हाथों मारे जाते हैं। सेनापति कर्ण जब घनघोर युद्ध लड़ रहा था, तब उसका सारथि शल्य उसका सतत तेजोवध करके उसे मानसिक रीति से निर्वीर्य कर देता है।

इस प्रकार कौरव पक्ष के पराजय के कारणों को ढूँढ़ने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। भीष्म एवं कर्ण के बीच जो मनमुटाव पैदा हुआ और जिसके परिणामस्वरूप महाभारत युद्ध का परिणाम भी नजरअंदाज हुआ, ऐसा ही खटाराग पांडवों की छावनी में नजर आता है। पांडवों में ज्येष्ठ युधिष्ठिर और अर्जुन के बीच एक ऐसी विषम घड़ी आ जाती है कि या तो युधिष्ठिर की मृत्यु अर्जुन के हाथ से हो या अर्जुन स्वयं आत्महत्या कर ले। इन दोनों में से एक भी विकल्प पांडवों की पराजय कर सकता था। युधिष्ठिर का वध हो और वह भी अर्जुन के हाथों से, तब पांडव पक्ष के एकजुट रहने की कोई संभावना नहीं रहती। यही नहीं, युधिष्ठिर रहित पांडव सैन्य लड़े भी तो किसके लिए? और यदि अर्जुन आत्मविलोपन करे तो पांडव-शक्ति का आधार ही धराशायी हो जाए। इस बारे में कर्णपर्व के अध्याय ४८ और ४९ में निरूपण किया गया है।

कर्ण के हाथों बाल-बाल बच गए और वह भी अपने पराक्रम से नहीं; किंतु कर्ण की उदारता के कारण युधिष्ठिर संग्राम की भीषणता के मध्य कहीं अर्जुन को फटकारते हैं। घोर संग्राम चल रहा है। दिवस का अभी अंत नहीं हुआ है। पराजय की लज्जा से हताश हुए रोष से भरे युधिष्ठिर अर्जुन से घोर कटु वचन कहते हैं—‘अर्जुन! तू तो ऐसी डींग हाँकता था कि अकेला ही कौरव सेना का नाश कर सकता हूँ, ऐसा सामर्थ्यवान् है; किंतु यहाँ तो तू एक कर्ण को भी मार नहीं सका। तेरी शक्ति में विश्वास करके हमने यह युद्ध प्रारंभ किया और तू तो मिट्टी के पाँवों वाला ही सिद्ध हुआ। यदि मुझे इसका ज्ञान होता तो मैंने युद्ध शुरू ही नहीं किया होता। अब तू अपना यह गांडीव कृष्ण को सौंप दे और तू सारथि बनकर रथ हाँक। कृष्ण ही शेष सब सँभालेंगे।’

युधिष्ठिर ने जैसे ही यह कथन पूरा किया कि तुरंत ही अर्जुन ने उनका वध करने के लिए अपनी तलवार उठाई। अर्जुन को इस प्रकार बड़े भ्राता का वध करने के लिए आगे बढ़ते देखकर कृष्ण ने उसे रोका और ऐसा करने का कारण पूछा तो उसने कहा—‘हे कृष्ण! मैंने यह प्रतिज्ञा की है कि जो व्यक्ति मेरा गांडीव किसी दूसरे को देने का आदेश देगा, उसका तत्काल शिरच्छेद कर दूँगा। युधिष्ठिर का वध करके मुझे अपने इस वचन का पालन करना चाहिए, अन्यथा मैं असत्यवादी सिद्ध होऊँगा।’

अति विषम है यह पल

किंतु यहाँ कृष्ण उपस्थित हैं। कृष्ण से अधिक सत्यासत्य अथवा धर्माधर्म को और कौन जान सकता है। कौरव पक्ष में जब ऐसी विषम घड़ी आती है तो कृष्ण की अनुपस्थिति रहती है। खटाराग के ऐसे प्रसंग पर कौरव पक्ष

निर्बल पड़ता है, विभक्त हो जाता है। पांडव पक्ष के लिए कृष्ण धर्म का सूक्ष्म अर्थ प्रकट करके तत्काल मार्ग निकाल लेते हैं और परिणामस्वरूप संकट की घड़ी और अधिक हानि किए बिना टल जाती है। कृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि सत्याचरण किसे कहते हैं। 'बलाक' नामक व्याध तथा प्रकटतः झूठ बोलकर धर्माचरण करनेवाले कौशिक मुनि की कथा द्वारा धर्म तथा सत्य के अति सूक्ष्म तत्त्व को प्रकट करते हैं। सत्य बोलना कब अधर्म बनता है और झूठ बोलना कब धर्म बनता है, इसकी भेदरेखा कृष्ण समझाते हैं। इस प्रकार कहकर अर्जुन की प्रतिज्ञा का पालन भी हो जाए और युधिष्ठिर का बाल भी बाँका न हो, ऐसा मार्ग धर्मप्रेरित कृष्ण सूचित करते हैं। कृष्ण कहते हैं—'हे पार्थ! तू युधिष्ठिर को अपमानजनक वचन कह। बड़े को ऐसे वचन कहना उसके वध के बराबर ही है।'

फिर इस सूचना के अनुसार अर्जुन युधिष्ठिर को जो कठोर वचन कहता है, यह किसी आधुनिक मानवशास्त्री के लिए भी रसप्रद जैसा है। वर्षों से जो रोष अर्जुन के मन में था, वह यहाँ उछलता दिखाई देता है। युधिष्ठिर को जो कहने जैसा था, किंतु जो कहा नहीं जा सका था, वह सब अर्जुन के मन में से उछलकर बाहर आ जाता है। अर्जुन कहता है—'हे भारत! तुम तो द्रौपदी की शय्या पर बैठकर मात्र बातें ही करना जानते हो; युद्ध किसे कहते हैं, यह तुम नहीं जानते! इस सब पाप का मूल तुमने जो द्यूत खेला था, वही है। द्यूत खेलकर ही तुमने हमारी यह हालत की है। तुम तो दुर्भागी हो ही, किंतु हमारा दुर्भाग्य भी तुम्हारे ही कारण है।'

पृथ्वी से चार अंगुल ऊँचे चलनेवाले रथ में बैठकर हस्तिनापुर के सिंहासन पर आरूढ़ होने के स्वप्न देखनेवाले युधिष्ठिर के लिए काटो तो खून न निकले, ऐसे ये वचन थे। वह हतप्रभ हो जाएँ, यह स्वाभाविक है। कृष्ण की उपस्थिति में अर्जुन ने जो कहा, उसमें सत्य का अंश नहीं, यह तो युधिष्ठिर भी नहीं कह सकते।

किंतु अब इस विषम पल का दूसरा पहलू प्रकट होता है।

आज की परिभाषा में कहें तो तकनीकी दृष्टि से अर्जुन की प्रतिज्ञा पूरी हुई और युधिष्ठिर का वध हो गया। किंतु ज्यों ही यह काम पूरा हुआ कि अर्जुन तुरंत ही थैले में से दूसरा बिलाड़ा नहीं, साँप निकालता है। ज्येष्ठ भ्राता को न कहने योग्य वचन कहनेवाली यह देह ही अब जीने योग्य नहीं और उसे पश्चात्ताप होता है। बड़े भाई को ऐसा कहनेवाले अर्जुन से जीया नहीं जाएगा। इस प्रायश्चित्त के रूप में वह व्यक्ति विलोपन का निश्चय करके पुनः अपना खड्ग उठाता है, तब एक बार फिर कृष्ण पुनः मार्गदर्शन करते हैं।

कृष्ण इस विपत्ति को टालते और अर्जुन के प्रायश्चित्त का मार्ग सरल करते हुए कहते हैं—'अर्जुन! आत्मप्रशंसा आत्मविलोपन के बराबर ही है। जिस प्रकार बड़े बंधु को कुवचन कहकर उसका वध किया, उसी प्रकार अब तू आत्मप्रशंसा करके विलोपन का प्रायश्चित्त कर ले।'

अर्जुन यह स्वीकार करता है और यहाँ फिर एक बार आधुनिक मानसशास्त्र के लिए रसप्रद हो, इस प्रकार वह अपने मन में संगृहीत बात प्रकट करता है—'महाराज युधिष्ठिर! मेरी बराबरी कर सके, ऐसे मात्र शंकर ही हैं। तुम्हारे चरणों में इंद्रप्रस्थ का राज्य मेरी शक्ति से ही था और यदि मैंने दिग्विजय न किया होता तो तुम राजसूय यज्ञ न कर सके होते। मुझे परास्त कर सके, ऐसा कोई योद्धा नहीं है' आदि-आदि। और जैसे ही इस आपत्ति का निवारण हुआ कि तुरंत ही अर्जुन फिर रणक्षेत्र में आता है और उसके बाद कर्ण का संहार करने का आखिरी क्षण आ जाता है।

कौरव पक्ष अधिक समर्थ एवं सबल होने पर भी परास्त हुआ और परिमाण में कम सामर्थ्यवान् होने पर भी पांडवों को विजय प्राप्त हुई, इसका रहस्य यही है कि धर्म के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थ को स्पष्ट करनेवाली और इस प्रकार उलझन-भरी परिस्थिति में से मार्ग निकालने की कृष्ण की विचक्षण प्रतिभा कौरवों के पास न थी, और यही तो 'यतो कृष्ण ततो धर्म' की सार्थकता है।



कृष्ण की धर्म-मीमांसा

धर्मपुरुष युधिष्ठिर पूर्णतः धर्मपुरुष नहीं थे, उनमें भी शठता का अंश छिपा हुआ था। इसका प्रतिपादन करनेवाले एक प्रसंग को इसके पहले हम देख चुके हैं। आरण्यकपर्व, अध्याय-३५ में द्यूत खेलने के अपने हेतु का बचाव करते हुए युधिष्ठिर ने कहा है कि धृतराष्ट्र के पुत्रों से राज्य हर लेने के इरादे से उन्होंने द्यूत के पासों का आश्रय लिया था; किंतु धूर्त शकुनि ने उनकी बाजी उलट दी थी। इस प्रकार युधिष्ठिर भी द्यूत खेलने के लिए उत्सुक थे और यह उत्साह उन्होंने शांत नहीं होने दिया था। यह उनकी चालाकी कही जा सकती है। इसके विपरीत वह द्यूत न खेलने के लिए तर्क देते हैं।

किंतु युधिष्ठिर में मात्र शठता के अंश ही नहीं, कभी-कभी तो भारी मूर्खता भी प्रकट होती है। पत्नी के वस्त्र-हरण के बाद भी दूसरी बार द्यूत खेलने के लिए बैठ जाने की तैयारी मन में बैठी इस शठता के बाद भी मूर्खता ही लगती है। स्वयं शकुनि की बराबरी नहीं कर सकते, यह दीपक के सत्य समझ चुकने के बाद वह द्यूत खेलने के लिए बैठ जाते हैं। इसे या तो मूर्खता की परिसीमा कहा जाए या मन में संगृहीत उस शठता की परिसीमा। इतना सबकुछ हो जाने के बाद यह कहना पड़ेगा कि वह द्यूत के द्वारा दुर्योधन के राज्य हर लेने का लालच न छोड़ सके।

युधिष्ठिर की मूर्खता की सीमा का उदाहरण महायुद्ध के अंतिम दिन उपलब्ध होता है। यह मूर्खता ऐसी है कि खुद कृष्ण भी कह देते हैं—‘युधिष्ठिर! तुमने अविचारी कृत्य किया है।’ इस ‘अविचारी’ शब्द का उच्चारण कृष्ण करते हैं, इतना याद रखना चाहिए। यह अविचार और कुछ नहीं, केवल मूर्खता का पर्याय है। कृष्ण के मुख से प्रकट होनेवाला शब्द अपना गौरव नहीं छोड़ता।

समस्त कौरव सेना का संहार हो चुकने के बाद अकेला बच गया दुर्योधन अपना जीवन बचाने के लिए पानी की सतह के नीचे छिप जाता है। कृष्ण सहित पांडव उसे जल में छिपे हुए ढूँढ़ निकालते हैं, तब युधिष्ठिर उसे पानी के बाहर आकर युद्ध करने के लिए ललकारते हैं। जल में सुरक्षित दुर्योधन कहता है—‘मैं निःशस्त्र हूँ और फिर तुम सब साथ हो। मुझे शस्त्र दो और मेरे साथ एक-एक युद्ध करो, यह धर्म है।’ (दुर्योधन के मुख से धर्म की यह व्याख्या कितनी हास्यास्पद है!) इसके उत्तर में विजय के मद से ग्रस्त अति उत्साही युधिष्ठिर कह देते हैं—‘दुर्योधन! तू कोई भी शस्त्र पसंद कर ले, वह तुझे दिया जाएगा और तू हम पाँचों में से चाहे जिस एक को युद्ध में यदि परास्त कर देगा तो यह हमारी संपूर्ण पराजय है, यह समझकर मैं संपूर्ण राज्य तुझे सौंप दूँगा। तू जिस पांडव को पसंद करेगा, वही तेरे साथ युद्ध करेगा।’ (शल्यपर्व, अध्याय-३१)

संपूर्ण युद्ध के परिणाम को एकाएक बदल डाले, ऐसी यह बात है। युधिष्ठिर का यह प्रस्ताव स्वीकार करके यदि दुर्योधन गदायुद्ध के लिए भीम के अलावा अन्य किसी पांडव को युद्ध के लिए आमंत्रित करे तो दुर्योधन की विजय निश्चित हो जाए। अर्जुन सहित एक भी पांडव (भीम के अलावा) दुर्योधन के सामने गदायुद्ध में एक क्षण भी टिक नहीं सकता, कृष्ण इस सत्य को जानते हैं और किनारे आई नाव को युधिष्ठिर लगभग डुबो देते हैं, यह तुरंत ही समझ जाते हैं। स्वयं भीम भी दुर्योधन के सामने टक्कर ले सकता है, इस विषय में कृष्ण के मन में शंका है; कारण, दुर्योधन ने जो शिक्षण लिया है, उसे कृष्ण अच्छी तरह जानते हैं। कृष्ण कहते हैं—‘युधिष्ठिर! तुमने पुनः जुआ खेला है, तुमने पांडव पक्ष को घोर आपत्ति में डाल दिया है। तुम्हारा यह वचन अविचारी है। नियमानुसार यदि गदायुद्ध हो तो दुर्योधन का कोई मुकाबला नहीं कर सकता।’

किंतु अब क्या हो? मात्र युधिष्ठिर को दोष देने से जो बिगड़ चुका है, वह ठीक होने वाला नहीं। कृष्ण को तो

इस महा संहार के अंत में धर्म की विजय अभिप्रेत है। कौरव पक्ष में जो कुछ धर्म है, उससे अधिक धर्म पांडव पक्ष में है, अतः वह पांडवों को परास्त नहीं होने दे सकता। फिर युधिष्ठिर ने भी भले ही एक बार जुआ खेलकर धर्म को दाँव पर लगा दिया हो। यहाँ एक बार फिर कृष्ण पांडवों को इस घोर आपत्ति में से अति विचक्षणता से उबार लेते हैं। दुर्योधन का असली वैर भीम के साथ है और भीम के हाथ से ही दुःशासन आदि अन्य कौरव मारे गए हैं। दुर्योधन युधिष्ठिर का वह मूर्खतापूर्ण प्रस्ताव स्वीकार करके भीम के सिवाय और किसीको गदायुद्ध के लिए निमंत्रित करे, इससे पहले ही कृष्ण ने एक अति मानसशास्त्रीय युक्ति का प्रयोग किया। दुर्योधन सुन सके, इस प्रकार वह भीमसेन से कहते हैं—‘हे महाबाहु! तुमने जिस प्रकार धृतराष्ट्र के सब पुत्रों को मार डाला और दुर्योधन की जंघा तोड़ डालने की प्रतिज्ञा की उसे पूरा करने का अवसर आ पहुँचा है। तेरे हाथ से दुर्योधन मारा जाएगा, इसलिए तेरे लिए ही युधिष्ठिर पृथ्वीपति बनेंगे।’

दुर्योधन वैराग्नि से धधकता है। भीम के प्रति प्रारंभ से ही उसके मन में प्रचंड रोष है। भीम के साथ युद्ध करने की यह आड़ी-टेढ़ी चुनौती है और इसके साथ ही तमाम कौरवों को अकेले भीम ने ही मारा है, इसकी याद दिलाकर भीम का वध करने, वैर वसूलने की यह आकर्षक युक्ति है। दुर्योधन अभिमानी है और उसके तमाम निर्णय अभिमान से प्रेरित रहे हैं, यह कृष्ण जानते हैं। उसके अभिमान की अग्नि को कृष्ण उकेरते हैं।

कृष्ण की यह युक्ति तत्काल सफल होती है। अभिमानी दुर्योधन गदा हाथ में लेकर भीम को ललकारता है। कृष्ण को भी यही अभिप्रेत था। युधिष्ठिर द्वारा आगे होकर आमंत्रित की हुई एक महा आपत्ति तत्क्षण हट जाती है।

किंतु भीम और दुर्योधन परस्पर युद्ध करें, इससे सब बेड़ा पार हो जाएगा, कृष्ण ऐसा नहीं मानते। कृष्ण ने आरंभ में ही कहा है—‘यदि युद्ध नियमानुसार हो तो दुर्योधन को कोई परास्त नहीं कर सकता।’ जब युद्ध का संकट काल में प्रवेश करे, तुरंत ही भीम दुर्योधन की शह में आ जाता है। युद्ध देख रहे कृष्ण एवं अर्जुन के बीच उस क्षण जो संवाद होता है, वह कृष्ण की युद्ध-मीमांसा और जीवन-दर्शन दोनों को प्रकट करता है। अर्जुन परिणाम के बारे में सशंक होता है, तब कृष्ण कहते हैं (शल्यपर्व, अध्याय-५७)—‘हे कौंतेय! यदि भीम मात्र धर्मयुद्ध ही करेगा तो वह दुर्योधन को नहीं जीत सकेगा। मात्र बल के सहारे भीम यदि न्यायपूर्वक लड़ेगा तो हम एक बार फिर घोर आपत्ति में फँस जाएँगे, यह निश्चय है।’ युधिष्ठिर के दोष से यह विषम स्थिति पैदा हुई है। कोई भी बुद्धिमान ऐसा काम न करे वैसे युधिष्ठिर ने किया है। और यदि भीम अन्याय से दुर्योधन को मार नहीं डालता तो युधिष्ठिर के बदले दुर्योधन ही राजा बनेगा, यह निश्चित है।

धर्म और न्याय के साधंत स्वरूप के समान कृष्ण यहाँ अन्याय एवं अधर्म का आश्रय लेने की स्पष्ट हिमायत करते हैं। अधिक व्यापक धर्म के रक्षण के लिए लघु अधर्म का आचरण किए बिना व्यावहारिक जगत् में चलता नहीं, इसका यहाँ स्पष्ट संकेत है। कौन-सा धर्म अधिक दूरगामी असर पैदा करने जैसा व्यापक है और कौन-सा धर्म ऐसे व्यापक धर्म के रक्षण के लिए त्याग करना चाहिए, यह ज्ञान यहाँ प्रकट होता है। धर्म-संकट के क्षण में मनुष्य को कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह कृष्ण के इस कथन में स्पष्ट होता है। युधिष्ठिर की मूर्खता का लाभ उठाकर यदि दुर्योधन संग्राम जीत जाए तो फिर धर्म की विजय का क्या होगा? सत्य का क्या? न्याय का क्या? कोई भी व्यक्ति इस धर्म, सत्य, न्याय—इन शब्दों को स्वीकार किस प्रकार कर सकेगा। आनेवाली पीढ़ियों का विश्वास ही इन शब्दों से उठ जाएगा। कृष्ण ऐसा कैसे होने दे सकते हैं। युधिष्ठिर एक व्यक्ति मात्र हैं और एक व्यक्ति की मूर्खता से परम सत्य को, व्यापक धर्म को यदि आँच आती है तो समष्टि की श्रद्धा का क्या होगा? कृष्ण इस श्रद्धा की रक्षा करना चाहते हैं और इसलिए अर्जुन से कहते हैं—‘परंतप! दुर्योधन की जाँघ तोड़ डालने की प्रतिज्ञा भीम ने की है, यह याद है न? भीम को इस बात की याद दिला दें।’ और वहाँ अर्जुन ने थके हुए भीम को सामने देखकर

अपनी जाँघ पर हाथ ठोककर दुर्योधन को ऊरुघात करने का संकेत किया।

अब तक भीम धर्मयुद्ध कर रहा था। अर्जुन के इस संकेत को उसने समझा। इस संकेत को कृष्ण का समर्थन भी होगा ही, यह समझने में उसे समय नहीं लगा। और कृष्ण का जिसे समर्थन हो, वह कदापि अधर्म नहीं हो सकता, इस श्रद्धा के साथ उसने अधर्म का यह आचरण किया। दुर्योधन की जाँघ उसने तोड़ डाली। दुर्योधन धराशायी हो गया। एक बार आपत्ति दूर हो गई, पांडवों की विजय संपूर्ण हुई।

भले और अधिक व्यापक धर्म के रक्षण के लिए यह छोटा-सा अधर्म आचार में आया, ऐसी दलील की जाए तो भी वह अधर्म कोई धर्म तो नहीं बन जाता। युद्ध के आरंभ में ही द्वारका छोड़कर तीर्थाटन पर चले जानेवाले संकर्षण बलराम इस महायुद्ध के समय उपस्थित हो गए हैं। भीम एवं दुर्योधन दोनों को बलराम ने गदायुद्ध के नियम सिखाए थे, अतः शिष्यों का यह भीषण युद्ध और इस प्रकार अपनी विद्या के पारखी जैसे बलराम आ पहुँचे हैं। भीम ने प्रतिस्पर्धी पर जो प्रहार किया, वह हिट बिलो दि बेल्ट थी। कमर के नीचे प्रहार था। नाभि के नीचे प्रहार करना धर्म नहीं है। बलराम इस अधर्म को सहन नहीं कर सकते। वह क्रुद्ध हो जाते हैं। दुर्योधन की पराजय से भी अधिक भीम का यह अधर्म उन्हें डंक मारता है। अपने आयुध प्रचंड हल को उठाकर वह भीम पर प्रहार करने के लिए आगे बढ़ते हैं।

बलराम यदि भीम पर प्रहार करें तो निस्संदेह पुनः एक बार पांडवों की प्रकट में दिखाई देनेवाली विजय पराजय में बदल जाती। यहाँ फिर कृष्ण ही बाजी सँभाल लेते हैं। बड़े भाई बलराम का हाथ पकड़कर कृष्ण पुनः धर्म का सूक्ष्म तत्त्व प्रकट करते हैं—‘बड़े भाई, आप भूल जाते हैं कि प्रतिज्ञा का पालन ही धर्म-पालन है। भीम ने दुर्योधन की जंघा तोड़ने की प्रतिज्ञा की थी और यह प्रतिज्ञा लेने के पीछे का इतिहास कहाँ किसीसे छिपा है? (यह कहकर कृष्ण संकेत करते हैं कि द्रौपदी के चीर-हरण के समय दुर्योधन ने अपनी जाँघ खुली करके जो अभद्र, अधार्मिक आचरण किया था, वही इस दूसरे धर्म के मूल में है।) फिर पहले मैत्रेय महर्षि ने दुर्योधन को शाप दिया था कि महायुद्ध में तेरी जाँघ टूट जाएगी। ऋषि का शाप भी निष्फल नहीं जाता। इस प्रकार जो कुछ हुआ है, वह धर्मतः ही है। इसलिए आप शांत हो जाएँ और भीम को क्षमा कर दें।’

बलराम वीर पुरुष हैं। धर्म तत्त्व के जानकार हैं। ऐसा होने पर भी कृष्ण के साथ यह अनुभूति कोमल तत्त्व से जुड़ी है। युद्ध की पूर्व संध्या जब कृष्ण पांडव पक्ष में रहना स्वीकार करते हैं तो बलराम की मति के अनुसार तो कौरव पक्ष ही न्याय था। ऐसा होने पर भी यदि कृष्ण को पांडव पक्ष में रहना हो तो कृष्ण के सामने होकर वह कौरवों का साथ देने के लिए तैयार नहीं; और इसीलिए ही उन्होंने युद्ध से दूर रहना पसंद किया था। जब बलराम इस महायुद्ध के प्रसंग में आ पहुँचे तब तीर्थाटन गए उन्हें पूरे बयालीस दिन हो चुके थे, इस आशय का श्लोक मिलता है।

बलराम का रोष शांत करने के लिए कालचक्र की अंतिम बात भी कह देते हैं—‘बड़े भाई! यह तो कलियुग के आगमन का चक्र है। कलियुग आ पहुँचा है, यह समझकर आप भीम को क्षमा कर दें।’

कृष्ण की इस समझाइश से कुछ अधिक समग्र नहीं समझ गए; किंतु कृष्ण के विरुद्ध कुछ न करने की भावना से जकड़े हुए होने की जो निर्बलता है, वह पुनः यहाँ प्रकट होती है। आयुध नीचे रखकर वे भीम को उबार तो लेते हैं, किंतु अपनी नाराजगी स्पष्ट शब्दों में प्रकट करते हैं—‘भीम ने अधर्म का आचरण किया है। दुर्योधन का युद्ध धर्मयुद्ध था। भीम को धिक्कार है।’ कहकर वे तुरंत ही रणक्षेत्र का त्याग कर द्वारका की ओर प्रस्थान कर जाते हैं। तत्काल निर्णय की अति कुशल बुद्धि से कृष्ण ने यहाँ दो बार पांडवों को उबार लिया है। दोनों समय यदि एक क्षण का भी विलंब हुआ होता तो पांडवों की विजय टल जाती, यह निश्चित है। जीव के संकटकाल में कृष्ण ने निर्णय

किया और उसपर सफल अमल भी किया। धर्म तत्त्व कहीं कोई जड़ पदार्थ नहीं, यह तो जीवित और अति सूक्ष्म तत्त्व है। इस सूक्ष्म तत्त्व को जो जानते हैं, वे प्रकट में दिखाई देनेवाले अधर्म के पीछे भी धर्म के असल तत्त्व को प्राप्त करते हैं।

और यही तो है कृष्ण की धर्म दृष्टि।



मित्र-कर्म

द्वितीय महायुद्ध के अंत में, ब्रिटेन के विजयी प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल से किसीने पूछा कि 'इस युद्ध को आप किस नाम से पहचानना पसंद करेंगे?' चर्चिल ने उत्तर दिया—'एक निरर्थक युद्ध!'

इस महायुद्ध के एक अन्य विजेता अमेरिका के राष्ट्रपति मि. रूजवेल्ट ने युद्ध के विषय में अपना प्रतिभाव देते हुए कहा—'विजयी होने के बाद, अनुभव के अंत में मुझे लगता है कि युद्ध से किसी प्रश्न का निर्णय नहीं होता।'

और ऐसा होते हुए भी युद्ध बिना मानव जाति का एक दिवस भी बीता नहीं। भूमि के किसी-न-किसी विस्तार में युद्ध न हो रहा हो, ऐसा कोई दिन मानव इतिहास में दिखाई नहीं देता।

चर्चिल और रूजवेल्ट ने जो ब्रह्मज्ञान युद्ध के अंत में प्राप्त किया, वही ज्ञान महायुद्ध की पूर्व संध्या में लगभग सभी पात्रों के पास है। महायुद्ध अनिवार्य बनता जाता है, यह समझते हुए भी युद्ध को रोकने के लिए जो प्रयत्न हुए, उनपर एक दृष्टि डालने योग्य है। इन प्रयासों को दो भागों में और यदि अधिक सूक्ष्मता से कहा जाए तो तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहले भाग में ये प्रयत्न करने वाले दूत हैं। इन दूतों के रूप में द्रुपद के राजपुरोहित और कौरव पक्ष से संजय भाग लेते हैं। ये दोनों दूत अपने-अपने स्वामियों की ओर से दूत-कार्य करने के लिए नियुक्त हुए हैं। स्वामियों ने प्रतिपक्ष को कहने के लिए अपने स्पष्ट संदेश दिए हैं। इनके स्वामी की आज्ञानुसार इन्हें संदेशवाहक का काम करना है। दूसरे भाग में श्रीकृष्ण ने युद्ध को टालने के लिए जो योग दिया, उसे दूत-कार्य कहीं नहीं कहा जा सकता। दूत स्वामी द्वारा नियुक्त होता है और उसके कार्यक्षेत्र की स्पष्ट सीमा होती है। कृष्ण को इस रूप में सामान्यतः पहचाना जाता है, इसमें 'दूत' शब्द के विषय की गैर समझ है। कृष्ण पांडवों द्वारा नियुक्त नहीं हुए थे। उलटे संजय का संदेश सुनने के बाद स्वयं कृष्ण ने ही आगे होकर कहा है कि 'वह कौरव सभा में जाकर दोनों पक्षों के हित में प्रयत्न करेंगे। यदि ऐसा हो सकेगा तो खुद को बड़ा पुण्य-लाभ होगा और सारी सृष्टि को संहार से बचाया जा सकेगा।' (उद्योगपर्व, अध्याय ७०, श्लोक ८०-८१)

कृष्ण के इस प्रस्ताव का युधिष्ठिर ने तो विरोध ही किया है। कृष्ण ऐसे काम के लिए अपने व्यक्तित्व का उपयोग करें, यह युधिष्ठिर को पसंद न था। कौरव सभा में जाकर कृष्ण यह जोखिम उठाएँ, यह युधिष्ठिर को उचित प्रतीत नहीं होता।

किंतु कृष्ण पहली दृष्टि में दूत-कार्य प्रतीत होनेवाला कार्य करने को उत्सुक हैं। इस आग्रह के पीछे जो कृष्ण दृष्टि है, वह अद्भुत है। कृष्ण कहते हैं—'राजन्! मैं यह प्रयत्न करूँगा, इससे किसीको अपनी निंदा करने का कारण नहीं रहेगा। यदि हेतु जो सिद्ध होगा तो उत्तम है; किंतु यदि सिद्ध न होगा तो भी हमने पूरा प्रयत्न नहीं किया, यह तो कभी कोई न कह सकेगा।' अपनी यह दृष्टि कृष्ण ने अर्जुन के साथ अपनी बातचीत में स्पष्ट की है। अर्जुन को इन प्रयत्नों में तनिक भी श्रद्धा नहीं और वह नहीं मानता कि युद्ध रुक जाएगा। फिर भी वह कृष्ण से कहता है कि 'तुम जो कुछ करके आओगे, वह मुझे स्वीकार है।' (इस बात के बाद कृष्ण को पांडवों का दूत किस प्रकार कहा जाए?) इसके जवाब में कृष्ण स्पष्ट करते हैं—'परंतप! मनुष्य से जो बन सके, वे सभी प्रयत्न मैं करूँगा; किंतु कोई दैवी कार्य तो मुझसे हो सकेगा नहीं।' (यहाँ कृष्ण अपनी मानुषी मर्यादा स्वीकार करते हैं। जो कुछ करते हैं, वे मानुषी कार्य हैं, इसका स्पष्ट संकेत देते हैं।) भीम, जो वर्षों से युद्ध के लिए तड़प रहा है, वह भी युद्ध की भयंकरता बराबर समझता है और इसलिए उसकी प्रकृति को असहज प्रतीत हो, इस प्रकार वह कृष्ण से कहता है—'यदुवीर! तुम्हारी इस संधिवार्ता से भाइयों में भाईचारा बढ़े और दुर्योधन भी प्रसन्न हो, ऐसा करना।'

युद्ध के लिए पूरी-पूरी तैयारी और जहाँ तक संभव हो वहाँ तक युद्ध को निवारण करने की इच्छा इस सबमें मौजूद है। एकमात्र द्रौपदी इसमें अपवाद है। समाधान के लिए आ रहे अपने सखा कृष्ण को वह अपनी कोरी केशराशि और वेणी दिखाकर कहती है—‘ये बाल भरी सभा में दुःशासन ने खींचे थे और वह भी तुम्हारे जीवित होते, यह भूलना मत, कृष्ण।’ जिस युद्ध के निवारण के लिए जो कृष्ण उद्धत हुए हैं, वह कृष्ण भी अपनी सखी के अपमान के उस पल को सुनते ही मानो अपने मूल हेतु से विचलित हुए हों, इस प्रकार द्रवित हो उठते हैं—‘द्रौपदी! जिस प्रकार तूने रुदन किया था, उसी प्रकार अब शत्रुओं का नाश होने पर कौरव स्त्रियाँ रुदन करेंगी, यह निश्चित मानना।’ इस कथन में कृष्ण द्रौपदी के प्रति भावना में बह जाते हैं और यही तो कृष्ण का मानुषी कृत्य है। जिस मानुषी मर्यादा का कृष्ण ने अर्जुन के सामने उल्लेख किया है, वह यहाँ प्रतिबिंबित होती है। किसी भी कीमत पर शांति के बदले के इस उद्गार में युद्ध और कौरवों के नाश की इच्छा दिखाई देती है। परंतु यह तो कृष्ण की मानुषी मर्यादा है। कृष्ण को वास्तव में युद्ध पसंद नहीं होता और न युद्ध के निवारण के लिए कृष्ण द्वारा अपनी सखी को दिए इस सांत्वना को आगे जाते एक बार दाँव में लगा देते हैं। दाँव में लगाया यह सांत्वना अर्थात् संधिवार्ता की विफलता के बाद हस्तिनापुर से उपलब्ध जाते हुए मार्ग में हुए कृष्ण-कर्ण संवाद और इस कृष्ण-कर्ण संवाद अर्थात् पहले जिसका उल्लेख किया है, यह युद्ध-निवारण के प्रयत्नों का तीसरा भाग है। इस तीसरे भाग में कोई दूत नहीं, कोई संधिवार्ताकार भी नहीं; किंतु न ही एक मुसद्दी राजपुरुष रक्त की एक बूँद गिराए बिना शत्रु के किले के कँगूरे गिरा देने के लिए राजकीय शतरंज की एक चाल चलते हैं। किंतु यह कोरी राजकीय शतरंज की चाल भी नहीं। यदि युद्ध अटकता हो—यदि महा संहार टाला जा सकता हो तो अपनी प्रिय सखी को दिया वचन भी दाँव में लगा देना, यही कृष्ण को अभिप्रेत होगा। अधिक व्यापक हित युद्ध के निवारण में है, न कि एक द्रौपदी की कोरी केशराशि को सतत याद रखकर स्वयं दिए सांत्वना की परिपूर्णता में। कोई भी सामान्य मनुष्य यह कर सकता है; किंतु कृष्ण यह नहीं कर सकते। अपनी तमाम मानुषी मर्यादाओं को स्वीकार करने के बाद भी कृष्ण मुट्ठी भर नहीं, एक हाथ ऊँचे मनुष्य हैं, यह कृष्ण के इन प्रयत्नों में प्रकट होता है।

कृष्ण द्वारा नियुक्त राजपुरोहित सबसे पहले पांडवों के दूत बनकर हस्तिनापुर आते हैं। विराट नगर में गुप्तवास पूरा करके प्रकट हुए पांडव इस समय उपलब्ध में वास कर रहे हैं। यह उपलब्ध विराट नगर की सीमाओं से लगा हुआ कोई स्थान होगा, यह लगता है। राजपुरोहित हस्तिनापुर आकर धृतराष्ट्र आदि सबको पांडवों की ओर से राजा द्रुपद द्वारा कहलाया संदेश देते हैं। इसमें पांडवों का अपना पैतृक अधिकार पीछे मिलना चाहिए, ऐसी माँग के साथ यदि ऐसा नहीं हुआ तो पांडव कितने समर्थ हैं, इसकी विगत दी है। इस प्रकार पांडवों की शक्ति की धमकी भी दी गई है। पांडवों के प्रति कौरवों ने आज तक अन्याय किया है, ऐसा खुला आक्षेप भी इस दूत ने किया है। यह निरा दूत-कार्य है। स्वामी के संदेश से अधिक यह विशेष कुछ नहीं करता। किंतु इस संदेश ने अपना असर तो तुरंत पैदा किया है। भीष्म आदि वृद्ध कुरुजन, जो मन-ही-मन मानते हैं कि पांडवों के पक्ष में धर्म है, वे तुरंत ही इस संदेश का सहारा लेकर पांडवों को उनका राज्य-भाग उनके सुपुर्द कर देने की बात धृतराष्ट्र व दुर्योधन आदि को समझाते हैं। युद्ध के लिए दुर्योधन के मनोबल पर इसका मानसशास्त्रीय असर अवश्य होगा। अभी थोड़े समय पहले अकेले अर्जुन के हाथ से कर्ण सहित छह-छह महारथी विराट नगर के समीप परास्त हुए थे, भीष्म इसकी कटु याद भी कराते हैं।

किंतु दुर्योधन की सबसे बड़ी निर्बलता उसका अभिमान है। धृतराष्ट्र की इतनी ही बड़ी निर्बलता उनका पुत्रमोह है। पांडवों की शक्ति से वह मन-ही-मन भयभीत हैं, लोकनिंदा का उन्हें डर है। राजनीति के सूत्र उनके साथ नहीं, यह बात वह जानते हैं और इतना होने पर भी वह निर्णायक सुर से बात नहीं कर सकते। राजपुरोहित को जवाबी

संदेश देने के बदले वे उसे पीछे लौटा देते हैं और इसके बाद इसके जवाब के रूप में संजय को हस्तिनापुर के दूत के रूप में जवाबी प्रस्ताव लेकर भेजते हैं। यह प्रस्ताव अर्थात् दंभ, प्रपंच और भयभीत मनुष्य की तड़फड़ाहट का सर्वोत्तम मिश्रण है। इसमें युद्ध-निवारण की या पांडवों को उनका राज्य वापस सौंप देने की कोई बात नहीं है। उलटे, पांडव पक्ष में जो कोई युद्ध की तैयारी चल रही है, उसकी विगत जानने की इच्छा है। शब्दों में पांडवों की शक्ति स्वीकार करने के साथ संजय धृतराष्ट्र का यह संदेश पांडवों को देता है। संजय कहता है—‘हे युधिष्ठिर! कृष्ण, द्रुपद, भीम, अर्जुन आदि से रक्षित तुमपर कौन विजय प्राप्त कर सकता है! नहीं कर सकता। जीवन तो अनित्य है और ऐसे अनित्य जीवन के लिए ऐसा घोर पाप करने के बदले तुम्हारे जैसे धर्म के ज्ञाताओं को तो राज्य का लोभ छोड़कर यादवों में मिलकर भिक्षावृत्ति से निर्वाह करना अच्छा है। तृष्णा बंधनकारक है और परलोक के लिए उत्तम पुण्य कार्य तुम प्राप्त करो।’

जिस प्रकार अभिमान दुर्योधन की निर्बलता है, पुत्रमोह राजा धृतराष्ट्र की निर्बलता है, उसी प्रकार धर्म-विषयक सुवाक्यों और इन्हीं पूजनीय मुख से—यह युधिष्ठिर की निर्बलता है। प्रकट रीति से क्रोध आए और घृणा उत्पन्न हो, ऐसे धृतराष्ट्र के ये धर्म-विषयक वाक्य सुनकर युधिष्ठिर क्रोध में नहीं आते, उलटे वह इन वाक्यों की मधुशाला में बह जाते हैं—इस संदेश की निरर्थकता पाकर और कपट व्यवहार से खिन्न होने के बदले कदाचित् ऐसा हो भी सकता है। ऐसी ढुलमुल मनोवृत्ति प्रदर्शित करते हैं; किंतु द्यूत का दाँव खेलते समय तो कृष्ण उपस्थित न थे। यहाँ तो कृष्ण सामने ही बैठे हैं। कृष्ण की उपस्थिति में युधिष्ठिर कोई भी निर्णय लेने के बदले, इस विषय में क्या योग्य है, यह कृष्ण से पूछते हैं। युधिष्ठिर की इस निर्बलता से कृष्ण अनजान कैसे हो सकते हैं! कृष्ण तुरंत ही बागडोर सँभाल लेते हैं। संजय के धर्म-विषयक ये दंभी वाक्य यहाँ नहीं, प्रत्युत वहाँ करने की सूचना देकर वापस लौटा देते हैं।

हस्तिनापुर वापस लौटे संजय ने धृतराष्ट्र को जो वृत्तांत सुनाया, उससे पहले से भयभीत हो चुके धृतराष्ट्र वस्तुतः अधिक भयभीत हो जाते हैं। यदि वास्तव में युद्ध हुआ तो पांडवों के हाथ उनके पुत्रों का नाश निश्चित है, यह धृतराष्ट्र बराबर समझते हैं। इस दारुण भविष्य की कल्पना मात्र से वह काँप उठते हैं और यह कंपन वह प्रकट भी करते हैं। संजय यों तो सूतपुत्र है और महाराज धृतराष्ट्र का सारथि है; किंतु सारथि होने पर भी उसमें ऐसी शक्ति है कि वह स्वामी को सत्य वचन कह सकता है और सारथि के मुख से यह सत्य जो कटु है, युद्ध स्वामी धृतराष्ट्र सुन भी लेते हैं। इसमें स्वामी तथा सूत दोनों की गरिमा विद्यमान है। इसके साथ ही भयभीत किंतु असल में झूठा और पाखंडी मनुष्य सूत जैसे क्षुद्र मनुष्य के हाथ से भी कितना हीन हो जाता है, इसका दर्शन भी होता है। संजय स्वामी से कहता है—‘महाराज! जिस दिवस भरी सभा में कपटी शकुनि एक के बाद दूसरा दाँव जीत रहा था तब आप प्रसन्न होकर हँसते थे, क्या आप यह भूल गए?’ (उद्योगपर्व, अनु. ५३) धृतराष्ट्र के पास इसका कोई उत्तर नहीं।

इस प्रकार दूतों द्वारा संदेशों का आदान-प्रदान यहाँ निष्फलता के साथ पूरा होता है। इसके बाद जो कार्य हैं, उसे कृष्ण सँभालते हैं। कृष्ण किसीके दूत नहीं। अपनी कारगुजारी के बारे में स्वयं कृष्ण ने ही हस्तिनापुर आकर विदुर के सामने कहा है—‘मैं यहाँ धर्म-पालन के लिए आया हूँ। जो मनुष्य धर्म को जानने के बाद भी उसका पालन नहीं करता है, वह अधर्मी है। क्लेश से घिरा हुआ मित्रों के साथ रहकर जो सत्कार्य नहीं करता, वह मनुष्य क्रूर है। आवश्यकता पड़ने पर दुष्कृत्य का आचरण करनेवाले मित्र को पकड़कर भी रोकना चाहिए। संबंधियों के बीच जब मनुष्य मध्यस्थ बनकर मदद नहीं करता, उसे समझदार मनुष्य मित्र नहीं मानते।’

इस प्रकार कृष्ण यहाँ अपनी भूमिका स्पष्ट करते हैं। यह भूमिका दूत की नहीं, मध्यस्थ की है और यह मध्यस्थ किसीके कहने से नहीं, किंतु धर्म से प्रेरित हुए हैं। मध्यस्थ किसी पक्ष में नहीं होता और कृष्ण पांडव पक्ष में होते

हुए भी यहाँ मध्यस्थ की भूमिका निभाते हैं।

किंतु मध्यस्थ की भूमिका निभाने हस्तिनापुर आए कृष्ण सहज ही असावधान नहीं हैं, वह द्रुपद के राजपुरोहित नहीं हैं और धृतराष्ट्र के सारथि संजय भी नहीं। वे अपने संपूर्ण शस्त्र सरंजाम सात्यकि जैसे समर्थ सारथि और जरूरी सैन्य के साथ आए हैं। दूत को ऐसी किसी सतर्कता की जरूरत नहीं होती। दुर्योधन, कर्ण, शकुनि आदि का कोई विश्वास नहीं करता, यह आशंका कृष्ण के मन में है ही।

हस्तिनापुर में कृष्ण को भरपूर स्वागत और मधुर वचनों से भुलावे में डालने की ऊँची चेष्टा धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन दोनों करते हैं। तब महात्मा विदुर इस चेष्टा की अवगणना करते हुए कहते हैं—‘कृष्ण का स्वागत तो मात्र चरण-प्रक्षालन से ही हो सकता है। एक जलपात्र से जो स्वागत हो, यही बहुत है।’ दुर्योधन के भव्य प्रासाद में रात्रि बिताने तथा भोजन का निमंत्रण अस्वीकार करके कृष्ण विदुर के आवास में रात बिताते हैं। दुर्योधन के निमंत्रण को अस्वीकार करने का जो कारण कृष्ण बताते हैं, उसमें से धर्म की सूक्ष्म दृष्टि ही तिर जाती है। कृष्ण कहते हैं—‘शुद्ध भोजन या तो प्रेम बंधन से होता है या आपत्ति से घिर जाने पर—कोई अन्य मार्ग न बचने पर तब होता है। हम सगे होते हुए भी प्रेम बंधन से बँधे हुए नहीं हैं और ऐसी कोई आपत्ति भी नहीं टूट पड़ी है कि सहभोजन अनिवार्य बन जाए।’

यहाँ विदुर के साग के बारे में कथाकारों को भक्ति के बारे में थोड़ा उल्लेख करना चाहिए। विदुर भक्त थे, यह ठीक है; किंतु घर में साग राँधकर खाना पड़े, ऐसी कंगाली तो कभी नहीं थी। भक्त तो कंगाल और दरिद्र ही होते हैं, ऐसी मान्यता से प्रेरित होकर विदुरजी की कथा कथाकारों ने प्रचलित की है। वास्तव में, इसका संकेतार्थ दुर्योधन के भव्य प्रासाद का त्याग कर कृष्ण ने विदुरजी के घर में जाकर उनके सत्कार को स्वीकार किया, इतना ही है। भगवान् को पाखंड से नहीं, हृदय के भाव से रिझाया जा सकता है, इतना ही इसका सूचितार्थ है।

□

कृष्ण, कुंती और कौरव सभा

कौरव सभा में औपचारिक आदर-सत्कार स्वीकार करने के बाद संधिकार्य अगले दिन सवेरे तक स्थगित रखकर रात्रि को कृष्ण कुंती से मिले। पांडवों के वनवास का समय कुंती ने हस्तिनापुर में विदुर के घर में बिताया है। तेरह वर्षों के लंबे समय के बाद पुत्र वापस लौट रहे हैं और इस क्षण महाविनाश के बादल भी घिर रहे हैं और उनके भार के नीचे व्याकुल होकर बैठी कुंती पुत्रवत् कृष्ण से मिलकर अस्वस्थ हो जाती है। मन में वर्षों से संगृहीत दुःख और व्यथा का बोझ मानो पिघलकर बहना शुरू हो गया है। जन्मदाता पिता ने वात्सल्य से पुत्री का पालन करने के बदले कुंतिभोज को दत्तक दे दी, यह दुर्भाग्य भी कुंती को यहाँ दुःख देता है। स्वयं तो आजन्म दुःख और दुर्भाग्य से घिरी हुई रही, यह याद कर कुंती दत्तक देनेवाले अपने पिता की आलोचना करती है। (उद्योगपर्व, अध्याय ८, श्लोक ५९-६०)

और अब मानो कुछ भी खोने को तैयार न हो, इस प्रकार रोष में बोल उठती है—‘कृष्ण! अर्जुन को कहना, क्षत्राणी जिस क्षण के लिए पुत्र को जन्म देती है, वह क्षण आ पहुँचा है। यदि यह क्षण चूक जाएगा तो महा अनर्थ होगा और मैं भी तुम्हारा त्याग करूँगी। अब तुम्हारे लिए द्रौपदी का अनुसरण करने का पल आया है।’ द्रौपदी युद्ध के लिए उत्सुक है, इसका ही यहाँ संकेत है। इतना कहने के बाद खुद अज्ञान में फँसकर ऐसा बोल रही है, इसका ज्ञान होने पर वह स्वस्थ होकर तुरंत ही कृष्ण से कहती है—‘मधुसूदन! जो कुछ हितकारी हो, वही करना और भूल-चूक से भी धर्म का लोप तो कभी न करना।’

अगले दिन सवेरे कौरव सभा में कृष्ण जो बात करते हैं, उसका प्रारंभ समझाने से होता है। कृष्ण वृद्ध कुरुजनों को संबोधित करके कहते हैं—‘कुरुवंश पर इस समय आपत्ति के बादल घिरे हैं। यदि समय पर उन्हें बिखेर नहीं दिया गया तो महाविनाश का सर्जन होगा। इस सर्वनाश को रोकने के लिए आप सब अपने पुत्रों को वश में रखो और मैं आपके शत्रुओं अर्थात् पांडवों को वश में रखूँगा। इसीमें दोनों पक्षों का हित है। यदि कौरव और पांडव शक्ति एक रहेगी तो इंद्र भी जीत नहीं सकता, ऐसा यह राज्य धृतराष्ट्र भोगेगा। कौरवों की हत्या करके पांडव राज्य करें अथवा पांडवों की हत्या करके कौरव राज्य करें, यह उभय परिस्थिति सुखप्रद नहीं।’

किंतु इस समझाइश का असर दुर्योधन पर हुआ नहीं, तब उसे डराने के लिए कृष्ण तुरंत कहते हैं—‘तो फिर हे दुर्योधन! एक बात समझ ले। अर्जुन की शर वर्षा के सामने तुम कोई टिक नहीं सकोगे। तेरे साथ रहे सगे-संबंधियों की मृत्यु का तू कारण बनेगा। वारणावत के लाक्षागृह का बदला तुम्हें रणशय्या पर सोने से मिलेगा।’

कृष्ण के इन वचनों का असर भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र, विदुर—सब वयोवृद्ध कुरुजनों पर हुआ है। ये सब दुर्योधन को कृष्ण के वचन स्वीकार करके सत्वर समाधान की भूमिका तैयार करने का परामर्श देते हैं।

किंतु दुर्योधन पर इस समझाइश का, इस धमकी का कोई असर नहीं होता। उलटे आज की परिभाषा में हम जिसे सभा-त्याग—‘वाकआउट’—कहते हैं, ऐसी परिस्थिति का वह सर्जन करता है। वह सभास्थल से उठकर चला जाता है। उसके इस आचरण के बाद कृष्ण वृद्ध कुरुजनों के सामने अभी एक और मार्ग सुझाते हैं। दुर्योधन यदि मानता ही नहीं तो सर्वनाश से उबरने का काम ये वृद्ध कुरुजन कर सकते हैं, यह कहकर कृष्ण अपने द्वारा हुए कंस-वध का स्मरण कराते हैं। कृष्ण कहते हैं—‘कंस ने यादव कुल में फूट डाली थी। उसके कारण यादव कुल—अंधक और वृष्णि—भयभीत हो गए थे। राजा उग्रसेन भी प्रभावहीन हो गए थे। इन संयोगों में, मैंने अंतिम उपाय के रूप में कंस का वध किया और यादव परिवारों को एकत्रित किया। इस उदाहरण का तुम अनुसरण करो। दुर्योधन को बंदी

बनाकर तुम कुरुवंशियों में एकता स्थापित करो। इसीमें तुम सबका हित है।' और यहाँ कृष्ण उस प्रसिद्ध श्लोक का उच्चारण करते हैं—'कुल के लिए व्यक्ति का त्याग करना चाहिए, ग्राम के लिए कुल का त्याग एवं देश की खातिर ग्राम का त्याग करना चाहिए और आत्मा की खातिर पृथ्वी का त्याग करना चाहिए।' (उद्योगपर्व, अध्याय १२६, श्लोक ४)

वृद्ध कुरुजन कृष्ण के कथन में निहित सत्य को स्वीकार करते हैं। परस्पर चर्चा करते हैं; किंतु कोई निर्णायक कदम नहीं उठा सकते। इस अनिर्णयात्मकता के लिए सब गांधारी की ढाल लेना पसंद करते हैं। (यहाँ 'गीता' का एक कथन याद करने योग्य है) युद्ध करना अथवा न करना ऐसी, दुविधा के बीच में जब अर्जुन कृष्ण की शरण में जाता है तो कृष्ण ने जो उपदेश दिया है, उसमें एक चरण 'संशयात्मा विनश्यति' है। यह संशय अर्थात् संदेह नहीं, किंतु निर्णय है, ऐसा अर्थ-घटन आचार्य रजनीश ने अपने ग्रंथ 'श्रीकृष्ण : मेरी दृष्टि में' में किया है। कृष्ण को अर्जुन के पास से जो अपेक्षित है, वह है अनिर्णयात्मकता की अपेक्षा त्याग। विचारपूर्वक किया गया गलत निर्णय भी इस अनिर्णयात्मकता की अपेक्षा अधिक इष्ट है, यह कृष्ण को अभिप्रेत है। कुरुक्षेत्र में कृष्ण को यही अभिप्रेत था, यह चर्चा का मुद्दा हो सकता है; किंतु कुरुवृद्धों की अनिर्णयात्मकता यहाँ प्रकट हुई है और जिसके कारण कुछ हो न सका, फलस्वरूप सर्वनाश अनिवार्य बन गया। इस संदर्भ में रजनीशजी का अर्थ-घटन रसप्रद तो है ही।

भीष्म सहित सब कुरुवृद्ध दुर्योधन को समझाने का काम गांधारी को सौंपते हैं। इसमें कालतत्त्व का विराट् परिणाम प्रकट होता है—जिसकी आँखों में पट्टी बँधी है, कुछ भी देखने का जिसने स्वेच्छा से अस्वीकार किया है, ऐसी एक स्त्री ही अब दृष्टिपूत रही है, यह स्वीकार करके सब कुरुवृद्ध मानो हाथ ऊँचा कर देते हैं। अपनी निष्फलता के लिए मानो गांधारी के पालव की ओट लेते हैं।

सभा त्यागकर चले गए दुर्योधन को माता की आज्ञा से पुनः बुलाकर भरी सभा में गांधारी ने कहा—'पुत्र! कृष्ण की बात हितकारी है। पांडुपुत्रों को आधा राज्य देकर शेष पृथ्वी पर तू निष्कण्टक राज्य का भोग कर।' इस समझाइश के साथ ही गांधारी—स्वेच्छा से अंधी बनी गांधारी की दृष्टि जो देख सकती है, वह खूब सुंदर है। गांधारी कहती है—'पुत्र! जिनकी शक्ति पर तू आधार रखता है, ये पितामह भीष्म, गुरु द्रोण, कृपाचार्य—सब पूरी ताकत से तेरे लिए पांडवों के विरुद्ध युद्ध करेंगे, ऐसा जो तू मानता हो तो यह मूर्खता है। इन सब वरिष्ठ कुरुजनों में तेरे प्रति ममता है, पांडुपुत्रों के पक्ष में न्याय है, ये यह स्वीकार करते हैं और इन संयोगों में ये पूरी ताकत से नहीं लड़ेंगे।' यह समझ गांधारी की दीर्घ दृष्टि की द्योतक है। दुर्योधन के गुब्बारे में से हवा निकाल डालने की यह भी एक युक्ति है।

किंतु जनेता के आर्षवचन भी कालक्रम बदल नहीं सकते। रोषयुक्त दुर्योधन फिर सभा त्याग करके चला जाता है।

इस प्रकार दूसरी बार सभा त्यागकर जानेवाला दुर्योधन थोड़ी देर बाद सभा में पुनः प्रवेश करता है, तब वह काल से संपूर्ण घिर गया होता है। इस समय वह कृष्ण को कैद करने के आयोजन के साथ आया है। कृष्ण मात्र पांडवों की ही शक्ति नहीं। कृष्ण कौरव सभा में भी सबसे बड़ा प्रभावक तत्त्व है। इसका साक्षात्कार होने के बाद, इस कृष्ण को ही कैद कर अपना हेतु सिद्ध करना चाहता है। कृष्ण को कैद करने की इसकी पूर्व तैयारी सबसे पहले सात्यकि जान लेता है। वह कृतवर्मा को सावधान कर साथ आए यादव सैन्य को सतर्क रहने का संकेत देता है। भीष्म, धृतराष्ट्र, द्रोण—इन सबमें हाहाकार मच जाता है, तब कृष्ण पूर्ण निर्लेप भाव से कहते हैं—'हे राजा! तुम जानते हो कि यदि मैं चाहूँ तो तुम्हारे इस पुत्र को पकड़कर अभी पांडवों के हवाले कर सकता हूँ; किंतु यह काम क्रोध-प्रेरित कहा जाएगा और इसलिए निंदनीय माना जाएगा। ऐसा निंदनीय काम मैं नहीं करूँगा।' और फिर दुर्योधन की ओर दृष्टि करके कहते हैं—'दुर्योधन! यदि तू ऐसा मानता है कि मैं अकेला हूँ तो तू मेरा यह रूप देख। मैं अकेला नहीं।'।

यह कहकर कृष्ण अपने विकराल किंतु विश्वरूप की झाँकी कराते हैं। कृष्ण के इस रूप में शक्ति का प्राकट्य है। भविष्य में कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन के सामने कृष्ण का जो विराट् स्वरूप प्रकट होने वाला है, उसका मानो यह संकेत है। शक्ति के इस प्राकट्य के पल में भी कृष्ण तो हँसते ही रहते हैं। अज्ञानी मनुष्य के सामने मानो करुणा का हास्य। यह सत्य दृष्टि सामने प्रकट होने के बाद भी सत्य को नहीं पा सकता, ऐसे दयनीय जीव के सामने मानो परमात्मा की करुणा का हास्य!

यहाँ एक आनुषंगिक प्रश्न उठता है।

कुरुक्षेत्र के मैदान में कृष्ण ने जब अर्जुन को विश्वरूप दर्शन कराया, तब कहा है—‘तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्’। (गीता, अध्याय ११, श्लोक ४७)

मेरा यह तेजोमय, अनादि अनंत रूप पहले किसीने देखा नहीं। जो यह विश्वरूप पहले किसीने न देखा हो, तो कौरव सभा में कृष्ण ने जो रूप दिखाया, वह रूप कैसा था? कौरव सभा में इस रूप को देखने के लिए कृष्ण ने दिव्य चक्षु दिए हैं और कुरुक्षेत्र के रूप का दर्शन भी दिव्य चक्षु से ही अर्जुन कर सका है—चर्मचक्षु से नहीं। तो फिर इन दो रूपों के बीच क्या कोई तात्त्विक अंतर था?

एक अंतर उड़कर आँख में लगता है। कौरव सभा का रूप दुर्योधन आदि को भयग्रस्त करने के लिए है। कुरुक्षेत्र का रूप अर्जुन को महाकाल का साक्षात्कार कराने के लिए है। कौरव सभा के रूप में कृष्ण की देह में तमाम यादव हैं—कृष्ण, बलराम भी हैं; तमाम देवता हैं; ब्रह्मा और रुद्र हैं; आदित्य, वसु, अश्विनी कुमार, यक्ष, गंधर्व और नाग हैं। पांडव भी इसमें हैं; किंतु कौरव अथवा भीष्म या द्रोण आदि कोई नहीं। कदाचित् कृष्ण को ऐसा सूचित करना था कि तमाम अस्तिवाचक तत्त्व जहाँ एकत्र हुए हैं, उसे दुर्योधन पकड़ सकता नहीं। यहाँ कोई नास्तिवाचक तत्त्व जो धर्म के साथ नहीं, ऐसा तत्त्व प्रदर्शित हुआ नहीं। इसके विपरीत कुरुक्षेत्र का रूप तो महाकाल का रूप है। इसमें धर्मप्रेरित और धर्म की अवगणना करने वाले दोनों तत्त्वों का समावेश है। कौरव सभा में कृष्ण की देह में से हजारों सूर्य दृश्यमान होते हैं। काल सब निश्चित कर चुका है और इस काल के जबड़ों में से कोई बच नहीं सका, इसका स्पष्ट संकेत कुरुक्षेत्र के विश्वरूप दर्शन में है, ऐसा कोई संकेत कौरव सभा के रूप में नहीं।

कौरव सभा में इस प्रकार अपने प्रयत्न निष्फल हो जाने के बाद कृष्ण उपलब्ध में पांडवों के पास जाने से पहले फिर एक बार कुंती से मिलकर बिदा लेते हैं। यह निष्फलता जानने के बाद कुंती पुत्रों को अब युद्ध का संदेश ही भेजती है। अब तो समाधान से प्राप्त होनेवाली भूमि नहीं लेने और युद्ध के द्वारा ही राज्य प्राप्त करना गौरवप्रद है, ऐसी सलाह देती है। पहले राजा मुचकुंद पर प्रसन्न हुए कुबेर ने उसे राज्य और समृद्धि देने को कहा, तब मुचकुंद ने उसका अस्वीकार करते हुए कहा था कि ‘मुझे किसीकी कृपा से कुछ मिले, उसकी अपेक्षा मेरे बाहुबल से जो प्राप्त हो, उसके भोग में ही मुझे रस है।’ इतना कहकर कुंती ‘राजा कालस्य कारणम्’ की वह प्रसिद्ध उक्ति कहती है। राजा के कारण ही काल का निर्माण होता है, यह कहने में कुंती का आशय शासन की सफलता हेतु सुदृढ़ता आदि के कारण प्रवर्तमान बनते काल का संकेत है। यदि राजा उत्तम हो तो राज्य में सत्ययुग प्रचलित होगा और यदि राजा नीच हो तो कलियुग प्रवर्तित होगा, यहाँ यही फलित होता है। दूसरे ही क्षण यह स्पष्ट भी करती है कि सत्ययुग, त्रेता, द्वापर या कलियुग—राजा के कारण ही इनका सर्जन होता है।

□

कर्ण और कृष्ण : वेदना और महत्ता का गुणोत्तर

महायुद्ध टालने के लिए और इस प्रकार समग्र आर्यावर्त को महाविनाश से उबार लेने के लिए कृष्ण ने जो प्रयत्न किए, उसमें साम, दाम व दंड—इन तीनों पहलुओं का दर्शन कौरव सभा में होता है। कुरुवृद्धों की समझाहट के बाद पांडवों की सहायता से धृतराष्ट्र कितना समर्थ राजा बन सकता है, इसका आकर्षक चित्र भी कृष्ण ने कौरव सभा में प्रस्तुत किया। अंत में पांडवों के सामर्थ्य के सामने कौरवों के नाश का भयावह चित्र भी प्रस्तुत किया और अपना विराट् दर्शन प्रकट करके भय भी फैलाया। इस प्रकार राजनीति के ये तीनों पासे—साम, दाम और दंड—निष्फल जाने के बाद महाविनाश को रोकने के लिए कटिबद्ध कृष्ण अब अंतिम पासे 'भेद' को आजमाते हैं। यह भेदनीति कृष्ण की अग्रिम नीति है। यह अपने स्वार्थ के लिए विपक्ष में फूट डालकर रोटी सेंक लेने की हीन वृत्ति नहीं। समग्र मानव जाति को महाविनाश से बचा लेने के उदात्त हेतु से ही कृष्ण ने इस भेदनीति का आश्रय अंत में लिया है। यद्यपि इस भेदनीति का आश्रय लेने के क्षण में, जो इस भेदनीति के मूल में है, वह महारथी कर्ण अपने उत्तम तत्त्वों को उज्ज्वल रीति से प्रकट करता है और कृष्ण से भी कहीं मुट्ठी-भर ऊँचा सिद्ध होता है। कौरव सभा में साम, दाम और दंड का आश्रय लेते समय कृष्ण—जो मात्र मुट्ठी जितने ऊँचे ही नहीं, एक हाथ ऊँचे लगते हैं—वह इस भेदनीति का आश्रय लेते समय कर्ण के समकक्ष ही नहीं, कहीं कर्ण से नीचे झुकते हुए भी लगते हैं। इसका कारण कदाचित् उस मलिन नीति में ही है। उत्तम हेतु के लिए भी मलिनता का सहारा लेने में आता है तो भले ही हेतु उदात्त हो, भले ही इसका सहारा लेनेवाला व्यक्ति विशुद्ध हो; किंतु काजल की कोठरी में प्रवेश करनेवाला शुभ नहीं रह सकता, यही इसका अर्थ-घटन है। कदाचित् यही संदेश महामुनि व्यास ने इंगित किया हो।

निष्फल रहे कृष्ण को, बोझिल वातावरण के नीचे, भीष्म आदि कुरुवृद्ध हस्तिनापुर के बाहर तक बिदा करने आते हैं। इसके बाद की भेंट में बातचीत शब्दों से नहीं, शरों से होनी है, इसका भान सभा को हो चुका था। प्रेमभाव के बदले अब शत्रुभाव बलवान बनना निश्चित है। हस्तिनापुर से भीष्म आदि से अंतिम बिदा लेकर कृष्ण उपलव्य में, जहाँ कृष्ण की प्रतीक्षा कर रहे पांडव बसते हैं, उस दिशा में मुँह फेरते हैं, तब बिदा करने आए लोगों में से कर्ण को अपने साथ लेते हैं। अभी थोड़े समय पहले ही कृष्ण को कौरव सभा में कैद करने की दुर्योधन की उस योजना में कर्ण भी शामिल था, यह जानते हुए भी कृष्ण उसी कर्ण को अपने साथ रथ में निमंत्रित करते हैं। राजनीति में व्यापक मानवहित में, भूतकाल में जो घटित हुआ है उसे गाँठ बाँधकर नहीं, किंतु भविष्य में जो होना चाहिए उसके संदर्भ में ही व्यक्ति का मूल्यांकन करके आगे बढ़ा जा सकता है—वही महामनीषी है; और कृष्ण तो ऐसे महामनीषी थे ही। उन्हें कैद करने के हीन कृत्य में कर्ण ने भले ही साथ दिया हो; किंतु कर्ण का उपयोग महाविनाश को रोकने के हेतु अभी हो सकता है। व्यक्तिगत राग-द्वेष से ऊपर उठकर, कृष्ण कर्ण को अपने साथ निमंत्रित करके एक अंतिम प्रयत्न करते हैं।

दुर्योधन जिसकी शक्ति के आधार पर पांडवों को परास्त करने की कल्पना कर रहा था, ऐसे तीन समर्थ योद्धा थे—भीष्म, द्रोण और कर्ण। इन तीनों में से भीष्म और द्रोण प्रतिबद्ध भले कौरव पक्ष के साथ हों, किंतु उनका मन तो पांडव पक्ष में ही है। इस सत्य को गांधारी ने कौरव सभा में जिस प्रकार प्रकट किया, उसी प्रकार दुर्योधन भी जानता था। दुर्योधन का मुख्य आधार कर्ण पर ही था। कर्ण के मन में पांडवों के प्रति भारी वैर और रोष भरा था। इस वैर और रोष के लिए उसके पास उचित कारण भी था। इस प्रकार वैर और रोष से प्रेरित होकर वह पांडवों से पूरी शक्ति से लड़ेगा, इसमें कोई संदेह न था। दुर्योधन की रणनीति की करोड़ रज्जु इस प्रकार कर्ण था। यदि यह करोड़

रज्जु ही निर्बल पड़ जाए तो दुर्योधन की ताकत में से हवा निकल जाए और यदि ऐसा हो तो समाधान की भूमिका एक बार फिर बन सकती है; आर्यावर्त महाविनाश से उबर सकता है। दुर्योधन की इस करोड़ रज्जु को ही तोड़ देने के लिए कृष्ण मानव जाति को उबार लेने के लिए—भले मलिन कही जाती हो—ऐसी भेदनीति का यहाँ आश्रय लेते हैं। इस मलिनता के कारण भले ही कृष्ण स्वयं नीचे आ गए हों; किंतु यदि इससे—युद्ध के विनाश से—मानव जाति उबर जाती है तो व्यक्ति कृष्ण का चरित्र भले ही नीच हो। व्यक्ति नहीं, समष्टि अधिक महान् है, यह अपना वाक्य, शुकपाठन था, इसकी ही कृष्ण यहाँ अपने को दाँव में लगाकर प्रतीति कराते हैं और यही तो कृष्ण के व्यक्तित्व की महत्ता है।

कर्ण के जीवन का सबसे बड़ा डंक उसकी सूतपुत्र के रूप में पहचान है। उसका कुजन्म उसे कचोटता है। इस सत्य से कृष्ण परिचित न हों, यह संभव नहीं हो सकता। यह डंक उसका निर्बल बाजू है और यदि इस डंक को धो दिया जाए तो कर्ण तत्कालीन तमाम क्षत्रियों में—इसमें युधिष्ठिर अथवा अर्जुन का भी समावेश हो जाता है—अधिक समर्थ, अधिक उज्ज्वल है। यह कृष्ण और भीष्म सहित सब जानते भी हैं। कृष्ण सबसे पहले कर्ण के इस मर्मस्थान को स्पर्श करते हैं। कृष्ण मानो कर्ण के नाम का रहस्य पहली ही बार खोलते हैं। इस प्रकार कर्ण से कहते हैं—‘कर्ण! तू सूतपुत्र नहीं है। तू तो कुंती की कौमार्यावस्था में उसकी कोख से जनमी हुई संतान है। जिस रीति से युधिष्ठिर आदि पाँच भाई पांडव हैं, उसी प्रकार तू छठा पांडव है। इतना ही नहीं, ज्येष्ठ पांडव है। ज्येष्ठ होने के कारण यदि पांडव पक्ष में रहता है तो युधिष्ठिर तेरे युवराज बन जाएँगे और अर्जुन तेरा अनुज बनकर तेरी सेवा करेगा।’

दुर्योधन की कृपा के कारण ही अंगराज बने और इस प्रकार हस्तिनापुर की छाया में रहे कर्ण के लिए यह एक जबरदस्त आकर्षण का प्रस्ताव कहा जाएगा। उसका आजन्म प्रतिस्पर्धी अर्जुन उसकी सेवा में उपस्थित हो और आर्यावर्त के सबसे समर्थ राज्य के सिंहासन पर स्वयं बैठा हो, यह कल्पना किसी भी व्यक्ति को उत्तेजित कर सकती है। किंतु कर्ण विचलित नहीं होता। उलटे कृष्ण जिसे रहस्य के रूप में उद्घाटित करते हैं, उस जन्म की बात को कर्ण कहता है कि वह पहले ही कभी का जान चुका है। इस प्रकार कुंतीपुत्र बनकर पांडव के रूप में अपनी पहचान का लालच उसे स्पर्श नहीं करता। अतीत को स्मरण करके वह कहता है—‘कृष्ण! पांडव के रूप में अपनी पहचान देने का समय कभी का बीत चुका है। मैं सूतपुत्र के रूप में जीया हूँ और अब यही मेरा गौरव है। अब यदि सूतपुत्र से पांडुपुत्र बनूँ तो मेरा ऐसा करना दुर्योधन के साथ विश्वासघात, द्रोह करना कहलाएगा। ऐसे द्रोह की बात तुम्हारे जैसे धर्मिष्ठ व्यक्ति को शोभा नहीं देती।’ सिंहासन अथवा सत्ता के स्थूल लालच से कर्ण वश में नहीं हुआ तो कृष्ण अब एक और प्रयत्न करते हैं। द्रौपदी को प्राप्त करने के लिए कर्ण ने स्वयंवर में प्रयत्न किया था; किंतु कुजन्म के कारण स्वयं द्रौपदी ने स्वीकार नहीं किया था। यह द्रौपदी पाँचों पांडवों की संयुक्त पत्नी थी। यदि कर्ण भी ज्येष्ठ पांडव का स्थान स्वीकार करे तो धर्मानुसार द्रौपदी छह पांडवों की पत्नी बने और इस प्रकार द्रौपदी को प्राप्त करने का कर्ण का स्वप्न साकार बन सकता है। कृष्ण कर्ण की यह सबसे अधिक निर्बल, किंतु मानसशास्त्रीय दृष्टि से अधिक सहज कड़ी को स्पर्श करते हैं।

‘कर्ण! जिस रीति से द्रौपदी पाँच पतियों की सेवा करती है, उसी प्रकार तुम्हारी भी सेवा करेगी...।’

यहाँ हमारे मन में भी एक प्रश्न उठता है। द्रौपदी को मात्र अर्जुन ने ही जीता था, उसे धर्म की जटिल तथा संकुल दलीलों से कृष्ण ने पाँचों भाइयों की पत्नी बनाने में सहायता की थी। यह सहायता और द्रौपदी का इस प्रकार पाँच भाइयों की संयुक्त पत्नी बनने का छेक निरपवाद रहे, ऐसा तो नहीं है।

संधिवार्ता के लिए उपलब्ध से प्रस्थान करते समय द्रौपदी ने सखा कृष्ण को कोरे केश दिखाकर अपने वैर की

याद दिलाई थी। कृष्ण ने तब द्रौपदी को सांत्वना भी दी थी कि इन केशों का प्रतिशोध अवश्य लिया जाएगा। यह होते हुए भी कृष्ण द्रौपदी के मन की भावनाओं का सहज ही विचार किए बिना, मानो द्रौपदी केवल एक स्थूल वस्तु हो, इस प्रकार यहाँ उसका विनियोग किस प्रकार कर सके? कृष्ण की बात स्वीकार करके यदि कर्ण ने ज्येष्ठ पांडव बनना स्वीकार किया होता तो कृष्ण ने द्रौपदी को आजन्म वैरभाव से धधकते कर्ण की शय्या पर सोने के लिए कैसे समझाया होता? कृष्ण उसे ऐसा कह ही कैसे सके होते? कृष्ण को द्रौपदी का ऐसा विनियोग करने का अधिकार ही क्या था? द्रौपदी के स्वतंत्र व्यक्तित्व की ऐसी भयानक अवहेलना कृष्ण किस प्रकार कर सके?

किंतु अधिक गहरे विचार करने पर कृष्ण के इस प्रस्ताव की प्रचंड उदात्तता के तुरंत ही दर्शन होते हैं। भेदनीति का आश्रय लेकर मलिन मार्ग जाने जितनी कक्षा में स्वयं कृष्ण उतरे हैं। इस मलिनता का स्पर्श यदि उज्ज्वल परिणाम ला सकता हो तो यह कलंक सहन करने के लिए भी वह तैयार हैं। इस कदम में वे अपने साथ द्रौपदी को भी जोड़ लेते हैं। तब सखि में उनके अपार विश्वास की झाँकी होती है। स्वयं बुरा कर रहे हैं; किंतु अपने इस बुरे काम में भी द्रौपदी उनके साथ रहेगी, ऐसी अपार श्रद्धा ही उन्हें ऐसा करने के लिए प्रेरित कर सकती है। जिस प्रकार वह स्वयं बलि देते हैं, उसी प्रकार द्रौपदी भी व्यक्तिगत पसंद-नापसंद को भूलकर मानव जाति को संहार में से उबार लेने के लिए उनका समर्थन करेगी। द्रौपदी की युद्धपिपासा के बाद भी उसके मन में अंत में तो समग्र विश्व के कल्याण की भावना ही बलतर है, यह कृष्ण से अधिक अच्छी तरह कौन जान सकता होगा! किंतु कर्ण इस प्रस्ताव के सामने भी अविचलित रहता है। इतना ही नहीं, यह प्रस्ताव धर्म्य नहीं, यह कहकर मानो वह कृष्ण को मात देता है। कर्ण कहता है—‘यदुनंदन! अब तो पुत्र-पौत्रों, पत्नी आदि में मन इतना डूब गया है कि ऐसा विचार भी नहीं किया जा सकता है।’

इस प्रकार कर्ण कृष्ण के एक भी प्रलोभन में फँसता नहीं; इतना ही नहीं, आर्षद्रष्टा के रूप में उसकी एक विरल प्रतिभा का भी यहाँ दर्शन होता है। कृष्ण जब कर्ण को युद्ध की भयानकता का संकेत देते हैं, तब कर्ण हँसकर कहता है—‘युद्ध के अंत के विषय में तो सब स्पष्ट है, कृष्ण! जिनके पक्ष में कृष्ण हों, वे पांडव ही विजयी होंगे, इसमें मुझे कोई शंका नहीं है।’ इस प्रकार वह अपनी पराजय के विषय में समान है और ऐसा होते हुए भी पराजय से उबरकर विरोधी पक्ष के साथ जाने की बात उसे रंच मात्र भी स्वीकार्य नहीं। भविष्य में जो बात कृष्ण ‘गीता’ के रूप में अर्जुन को कहने वाले हैं, उसका मानो प्रत्यक्ष व्यावहारिक दर्शन कर्ण के इस आचरण में होता है—‘स्वधर्मो निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः’। इस गीताबोध का ही मानो कर्ण अनुसरण करता है।

किंतु कर्ण का सबसे उन्नत पहलू उसकी एक विनती में है। कृष्ण से वह कहता है—‘कृष्ण! मैं ज्येष्ठ कुंतीपुत्र हूँ, यह बात भूल से भी धर्मराज युधिष्ठिर के कान में मत आने देना। जो ऐसा होगा तो युधिष्ठिर ज्येष्ठ भ्राता के रूप में अपना राज्य मुझे सौंप देंगे, और मैं यह राज्य दुर्योधन के सुपुर्द कर दूँगा। कारण, मैं दुर्योधन के समक्ष प्रतिबद्ध हूँ और उसकी मैत्री का ऋण मेरे ऊपर है। यदि ऐसा होगा तो यह योग्य नहीं कहा जाएगा; क्योंकि युधिष्ठिर ही अधिक योग्य सम्राट् बन सकते हैं।’

इस कारण कर्ण के मन में स्पष्ट है। यह स्पष्टता सहन न होने जैसी है। यह समझ बाद में कहीं आगे-पीछे खिसक न जाए और इस परिस्थिति में पड़ जाने की वेदना सहन करना सरल नहीं। कर्ण ऐसी वेदना सहन कर रहा है और घड़ी-भर तो वह कृष्ण से भी एक अंगुल ऊँचा हो, ऐसा आभास प्रकट होता है।

कृष्ण ने आजन्म अपार वेदनाएँ सहन की हैं। वेदना सहन करने की इस बात में कर्ण हर क्षण अधिक आगे रहता है। महत्ताओं का प्राकट्य वेदना सहन करने की क्षमता में रहा है, इसीका ही मानो यहाँ संकेत मिलता है।

किंतु कर्ण की वेदना कृष्ण की वेदना से भिन्न इसलिए रहती है कि इसमें व्यष्टि आत्मसात् हुई है—कृष्ण में कहीं

व्यष्टि कृष्ण नहीं, मात्र समष्टि ही है।



स्वधर्म और समझ

महाभारत का घटनाचक्र ही ऐसा संकुल है कि इस घटनाचक्र में भाग लेनेवाला और 'धर्म' नाम के तत्त्व के विषय में सहजसाज भी समान कोई भी पात्र कभी-कभी, कहीं-कहीं अपने कर्तव्य की भूमिका के विषय में विषाद अनुभव किए बिना नहीं रहता। कृष्ण और भीष्म से लेकर अश्वत्थामा तक तमाम पात्रों के विषय में इस प्रकार कई जगह ऐसे प्रसंग महाभारत में आए हैं। अर्जुन के विषाद की बात इसमें सबसे अधिक प्रसिद्ध है। युद्ध के आरंभ काल में ही—जीभ सूख जाती है, गात्र शिथिल हो जाते हैं, गांडीव हाथ से खिसक जाता है और त्वचा में दाह उपजती है—यह कहकर वह मिट्टी-सा ढेर हो जाता है। युद्ध करके विजय प्राप्त करने के विषय में उसके मन में तीव्र विषाद प्रकट होता है। ऐसा विषाद युद्ध के अंत में विजय प्राप्त करने के बाद युधिष्ठिर में भी प्रकट होता है। विजय की निरर्थकता के विषय में वह इतने अधिक व्यग्रचित्त हो जाते हैं कि हस्तिनापुर में प्रवेश करके राज्याभिषेक से ही इनकार कर देते हैं। हम किसलिए विजयी हुए? हम किसलिए जीएँ? ऐसे प्रश्न वह बार-बार करते हैं। दुष्टता के प्रतीक के रूप में जिसका आलेखन हुआ है, वह दुर्योधन तक कुरुक्षेत्र के मैदान में ऐसे विषाद से घिरा हुआ दिखाई देता है। युद्ध के पंद्रहवें दिन सात्यकि के सामने लड़ते समय वह कहता है—'सात्यकि! हम प्रेमबंधन से बँधे हुए परस्पर के नाश के लिए लड़ रहे हैं। यह कैसी विडंबना है! धिक्कार है हमारी लालसा को! धिक्कार है हमारे क्षात्र धर्म को! (द्रोणपर्व) इस सबमें अर्जुन का विषाद सबसे भिन्न रूप में आलेखा गया है। कारण, इस विषाद के साथ कृष्ण का संस्पर्श हुआ और यह संस्पर्श इसे सभी विषादों से अलग कर योग की भूमिका पर ले जाता है।

अर्जुन के इस विषाद को योग की भूमिका पर ले जाकर उसे स्वधर्म की पुनर्स्मृति कराने का कृष्ण का यह प्रयास 'श्रीमद्भगवद्गीता' के रूप में प्रसिद्ध है। आज हजारों वर्ष बाद भी 'गीता' का कोई निश्चित अर्थ-घटन सर्व-स्वीकृत रूप में स्थापित नहीं हुआ। गांधीजी को कृष्ण के उपदेश में 'अहिंसा' के दर्शन होते हैं तो लोकमान्य तिलक को इसमें केवल 'कर्मयोग' ही दिखाई देता है। 'गीता' में प्रतिध्वनित हुआ ज्ञानयोग अथवा भक्तियोग भी अंत में इस कर्मयोग का प्रतिपादन करने के लिए ही है, ऐसा लोकमान्य तिलक भी मानते हैं। विनोबाजी इसकी 'मोह निराकरण' के रूप में पहचान कराते हैं। प्रत्येक वाचन इसमें नए-नए अर्थ निकालता है, ऐसा यह उपदेश अठारह अक्षौहिणी सैन्य के मध्य में दिया गया है। भीष्मपर्व के अध्याय २३ से ४० तक इसका विस्तार है।

यह विस्तार कितने श्लोकों के बीच विभक्त है, इसके बारे में ठीक-ठीक मतभेद प्रवर्तता है। उपदेश के अंत में आया भीष्मपर्व का एक श्लोक इस प्रकार है—'इस प्रकार कृष्ण ने ६२०, अर्जुन ने ५७, संजय ने ६७ और धृतराष्ट्र ने १। इस प्रकार कुल ७४५ श्लोक कहे।' इसके विपरीत 'गीता' की जो आवृत्तियाँ वर्तमान में प्रचलित हैं, उनमें कुल ७०० श्लोक ही हैं। जिस श्लोक में गीता में कुल ७४५ श्लोक ही होने की बात लिखी गई है, यह श्लोक महाभारत की तमाम आवृत्तियों में नहीं है और यह श्लोक ही एक क्षेपक है, ऐसी मान्यता है। यदि यह श्लोक क्षेपक हो तो भी ७४५ श्लोक की 'गीता' की प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध तो हैं ही, 'गीता' की कोई-कोई प्रति तो ७४५ श्लोक की भी मिलती है। इस समय जो ७०० श्लोक प्रचलित हैं, उनमें कृष्ण के मुख से ५७५ श्लोक बताए गए हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जो ४५ श्लोक कम होते हैं, वह कृष्ण का ही उपदेश हैं। ये ४५ श्लोक कब, किसने और किसलिए 'गीता' से दूर किए होंगे, अथवा वे ४५ श्लोक ही किसीने पीछे से 'गीता' में जोड़ दिए होंगे?

कुछ समय पहले हैदराबाद से डॉ. वेदव्यास नामक संस्कृत के किसी विद्वान् ने भीष्मपर्व के श्लोक पर आधारित ऐसा दावा किया था कि खोए हुए श्लोकों को उन्होंने पुराने गोंडल राज्य के ग्रंथालय में भोजपत्र पर लिखे ढूँढ़

निकाले हैं और अब 'गीता' की संपूर्ण प्रति तैयार हो गई है। डॉ. वेदव्यास का यह दावा तथ्यों के परीक्षण से सत्य सिद्ध नहीं होता, और उस समय ही इस दावे को चुनौती देनेवाला जवाबी निवेदन एक लेखक ने किया था। गोंडल के जिस ग्रंथालय का डॉ. वेदव्यास ने उल्लेख किया था, वह ग्रंथालय अब भुवनेश्वरी पीठ के पास है और इस पीठ के पास 'गीता' की संख्याबंध हस्तलिखित प्रतियाँ संगृहीत हैं। पीठ के वर्तमान आचार्य श्री घनश्यामदासजी ने इस लेखक को लिखकर बताया था कि ऐसी कोई जाँच अथवा अध्ययन करने कोई यहाँ नहीं आया, बल्कि ७४५ श्लोकों की संपूर्ण 'गीता' को भुवनेश्वरी पीठ ने ही सन् १९३६ में आचार्य चरण तीर्थ द्वारा संपादित आवृत्ति प्रकट की थी। इस आवृत्ति के मूल उद्भव स्थान के रूप में कश्मीरी भाषा की आवृत्ति को गिना गया है। इसके अलावा मराठी भाषा में भी ७४५ श्लोकों की 'गीता' उपलब्ध है। इस फारसी 'गीता' की प्रति लंदन की इंडिया हाउस लाइब्रेरी में है, यह आचार्य चरण तीर्थ ने लिखा है और दिनांक १५-७-१९३७ के 'हिंदू' दैनिक के अंक में इस बारे में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के अध्यापक डॉ. के.वी. रंगास्वामी आयरंगर ने लिखा भी है। इस प्रकार खोए ४५ श्लोकों को पहली बार खोज निकालने का दावा टिकनेवाला न था और इसलिए जवाबी निवेदन के पीछे डॉ. वेदव्यासजी ने दोहराया भी नहीं।

किंतु इससे 'गीता' का श्लोक संख्या संबंधी विवाद समाप्त नहीं हो जाता। कहीं तो यह श्लोक संख्या असल में मात्र १०१ ही होना लिखा गया है (के.का. शास्त्री)। रुडोल्फ आरो ने लिखा है कि असल श्लोक मात्र १३३ ही हैं। मराठी में डॉ. खेर 'गीता' का असली रूप १२६ श्लोक मानते हैं। 'गीता' की भाषा, उसमें उद्घोषित तत्त्वज्ञान, इस सबकी संवादिता और वाक्यता दृष्टि सम्मुख रखकर अलग-अलग विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं।

विद्वानों के इन मत-मतांतरों के बाद भी 'गीता' की प्रचलित आवृत्ति में ७०० श्लोक हैं और ७४५ श्लोकों की आवृत्ति प्रचार में थी; फिर भी यह ४५ श्लोक अचानक 'गीता' में से निकल गए, यह प्रश्न बना ही रहता है। इसका एक खुलासा ऐसा करने में आता है कि आदि शंकराचार्य ने 'गीता' पर जो भाष्य लिखा, उसमें उन्होंने ७०० श्लोकों का ही समावेश किया और शंकराचार्य के बाद तमाम आचार्यों तथा पंडितों पर आदिगुरु का ऐसा प्रचंड असर पड़ा कि आदिगुरु ने जो भाष्य किया, उसे ही अंतिम रूप में स्वीकार करके सबने उसके विषय में ग्रंथ लिखे। शंकराचार्य के प्रचंड व्यक्तित्व के नीचे बाद के सभी विचारक भ्रमित हुए हों, यह स्वीकार कर लिया जाए तो दूसरा प्रश्न यह पैदा होता है कि आदिगुरु ने इन ४५ श्लोकों को जाति बाहर कैसे रखा होगा? इसका एक खुलासा ऐसा करने में आता है कि इन ४५ श्लोकों का अर्थ-घटन बौद्ध मत के अनुकूल होने जैसा है और इसलिए बौद्ध धर्म के विरुद्ध अपने अभियान में यह अर्थ-घटन कहीं न हो, इस हेतु से आदिगुरु ने इनको अपने भाष्य में कहीं समाया न हो। यद्यपि आदि शंकराचार्य के बाद अनेक वर्ष पीछे 'गीता' में जो फारसी अनुवाद प्रकट हुआ है, उसमें ७४५ श्लोक ही हैं, इसका विचार किया जाना चाहिए।

कभी ऐसा तर्क दिया जाता है कि जब दोनों पक्ष युद्ध के लिए पूर्ण सज्ज हो चुके हों, आमने-सामने सेनाएँ नियोजित कर दी गई हों और प्रहार के संकेत की राह देखी जा रही हो, उस क्षण यह ७०० अथवा ७४५ श्लोकों के विस्तारवाली बातचीत करने का समय कृष्ण और अर्जुन को किस प्रकार मिला होगा? ऐसे ही युद्ध तर्क से उत्तर भी दिया गया है। महाभारत—यह वास्तव में वेदव्यास द्वारा लिखी कथा है। महाभारत के पात्र बातचीत पद्यों में करते हैं, यह व्यास का सर्जन है। वास्तव में, ये पात्र घटनाओं के साथ जुड़े हुए हैं तो सामान्य बातचीत जिस प्रकार गद्य में होती है, उसी प्रकार की गई हो; बाद में इन कथनों को वेदव्यास ने कथा लिखते समय पद्य में लिख लिया हो। यदि यह तर्क स्वीकार करें तो 'गीता' में जो बातचीत है, वह गद्य रूप में कृष्ण एवं अर्जुन के बीच हुई हो और गद्य रूप में इस बातचीत में डेढ़ घंटे से अधिक समय नहीं लगेगा। युद्ध अभी शुरू नहीं हुआ है; आरंभ का संकेत अभी दिया

नहीं गया; अभी निरीक्षण का प्रसंग चल रहा है—उस समय कृष्ण अर्जुन को डेढ़ घंटे का समय नहीं मिलेगा, यह मानना तर्कसंगत नहीं होगा।

‘गीता’ के दर्शन के बारे में बहुत लिखा गया है। आगे भी बहुत लिखा जाएगा। फिर भी वह पूरा हो गया है, ऐसा कोई नहीं कह सकता। ‘गीता’ का मूल प्रश्न स्वधर्म है। अर्जुन का स्वधर्म यह था कि प्रवृत्ति युद्ध-विमुख नहीं होती। यह धर्म अर्थात् सहज प्रकृति—यही अर्थ अभिप्रेत है। अर्जुन का विषाद तथा उसकी प्रवृत्ति धर्म के विरुद्ध थी। यदि वह इस विषाद के वश में होकर आचरण करे तो उसका यह आचरण धर्म के विरुद्ध कहलाएगा। ‘स्वधर्म निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः’—इस संदेश का सही अर्थ है।

‘धर्म’ के बारे में इस बात की चर्चा करते समय आचार्य रजनीश ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि ‘युद्ध करने का यह तत्त्वज्ञान कृष्ण, ईसा अथवा महावीर पर सफलतापूर्वक आजमा न सके होते; क्योंकि यह अहिंसा—ईसा या महावीर की प्रकृति थी, उनका यह धर्म था। इसके विपरीत अर्जुन का धर्म युद्ध के प्रति ही था और इसलिए कृष्ण अर्जुन को उसके असली धर्म की ओर मोड़ सके। महावीर, ईसा को इस प्रकार युद्ध की ओर प्रेरित किया ही नहीं जा सकता। स्वधर्म का यही अर्थ है।’

किंतु कृष्ण का उपदेश कोई आज्ञा नहीं। आरंभ में ही अर्जुन कह देता है—‘शाधि मां त्वां प्रपन्नम्’—मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, तुम्हारी शरण में आया हूँ। वह दिशा-शून्य हो गया है। जिस महायुद्ध के लिए वह कितने ही महीनों और वर्षों से तैयारी कर रहा था, वह संहार प्रत्यक्ष हुआ तो उसके साक्षात्कार ने उसे दिशा-शून्य कर डाला है। संहार उसके मन के लिए कोई नई बात नहीं—अनेक वध वह कर चुका है; किंतु अब जो संहार उसे करना है, उसकी भूमिका ही बिलकुल अलग तरह की है। ज्ञान, पंडिताई—यह सब मोह की ओट में कैसे विलुप्त हो जाता है, इसका ही यह उदाहरण है। जिस समय अर्जुन कृष्ण से कहता है—‘मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ’, उस क्षण उसकी जवाबदारी पूरी होती है। कृष्ण भी उसी सहजता से उस शरणागत को स्वीकार करके कह देते हैं—‘मामेकं शरणं ब्रज’। किंतु इससे कहीं शरणागत की बुद्धि का कुछ इनकार नहीं करते। बुद्धि का तो कृष्ण के मन में बड़ा मूल्य है। मनुष्य का नाश बुद्धिनाश से ही होता है, यह स्पष्ट प्रतिपादन कृष्ण करते हैं। मनुष्य के नाश का आरंभ आसक्ति से होता है, यह कहने के बाद आसक्ति, कामना, क्रोध, मूढ़ता और स्मृति विनाश तक सर्वनाश की सीढ़ियाँ एक के बाद एक उतरते जाते हैं। किंतु ये स्मृतिनाश कोई सर्वनाश नहीं, स्मृतिनाश के बाद की सीढ़ी बुद्धिनाश है और बुद्धिनाश—यह सर्वनाश है। यह कृष्ण ने ‘गीता’ के आरंभ में ही कहा है। ऐसा नहीं है कि कृष्ण ने यह बात मात्र एक सुवाक्य के रूप में कही है। अठारह अध्याय के अंत में अर्जुन जब स्वधर्म के प्रति जाग्रत होता है, उसके मोह का निवारण होता है, कृष्ण के उपदेश को वह स्वीकार करता है—‘नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत’। और फिर तुरंत कहता है—‘करिष्ये वचनं तव’। तुम जो कहोगे, वह मैं करूँगा। किंतु यह कोरी शरणागति है कि इसमें से मन भी है। यह जाने बिना कृष्ण को अपने उपदेश का आचरण स्वीकार नहीं। कृष्ण को समझ बिना शरणागति स्वीकार्य नहीं और इसलिए अर्जुन से कहते भी हैं—‘यथेच्छसि तथा कुरु’। मुझे जो कुछ कहना था, वह मैंने तुझे कह दिया है; अब तुझे जो योग्य लगे वह कर। आखिर में तो जिसे कर्म करना है, उसे ही कर्म को बुद्धिपूर्वक समझ लेना चाहिए; समझ बिना केवल भेड़ जैसा अनुसरण कृष्ण को स्वीकार्य नहीं। भक्त, शरणागत से कृष्ण की यही अपेक्षा है। बुद्धिहीन शरणागति नहीं, किंतु बुद्धिपूर्वक समझ। यही तो कृष्ण की महत्ता है। यही तो है ‘गीता’ का संदेश। स्वधर्म और समझ—इन दो तत्त्वों से रहित मनुष्य जीवन कृष्ण को स्वीकार्य नहीं। जो इन दो तत्त्वों को प्राप्त कर सकेगा, तो जीवन के बहुत सारे प्रश्न बिलकुल हल न हो जाएँ तो भी बिलकुल सरल बन जाते हैं, इसमें कोई शक नहीं। कारण, ये तत्त्व कोरे शब्द नहीं, उनका व्यावहारिक मूल्य भी हैं।



कृष्ण वासुदेव

‘श्रीमद्भगवद्गीता’ का दसवाँ अध्याय विभूति योग के रूप में पहचाना जाता है। इस अध्याय में श्रीकृष्ण अपनी पहचान कराते हैं। इस विशाल विश्व के अनंत पदार्थों में किस-किस रूप में श्रीकृष्ण का विस्तार हुआ है, अर्जुन की इस जिज्ञासा के उत्तर में कृष्ण अपनी कितनी ही विभूतियों की पहचान देते हुए कहते हैं—‘ये तो मुख्य विभूतियाँ ही हैं, मेरा विस्तार तो अनंत है।’ यहाँ कृष्ण ने उदाहरण रूप में अपनी कुल अस्सी विभूतियों की पहचान दी है। इस पहचान में ‘छल करनेवालों में मैं द्यूत हूँ’ से लगाकर ‘वाणी में मैं ओंकार हूँ’—इस प्रकार विविध स्तरों पर यह प्रस्तार हुआ है। इसमें ‘आदित्यानामहं विष्णु’—आदित्यों में मैं विष्णु हूँ; ‘देवानामस्मि वासवः’—देवों में मैं इंद्र हूँ और ‘रुद्राणां शंकरश्चास्मि’—रुद्रों में मैं शंकर हूँ—इस प्रकार देवयोनि के उत्तर पदों पर सकल विश्व के सृजन विष्णु के पद पर अपने को स्थापित करने के बाद कृष्ण ‘वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि’—यह कहकर वृष्णिवंश अर्थात् यादवों में मैं वासुदेव हूँ—इस प्रकार अपनी पहचान कराते हैं। यादवों में जो देह रूपधारी कृष्ण के रूप में पहचाना जाता था, इस रूप को कृष्ण ‘वासुदेव’ कहते हैं। यह वासुदेव पिता वसुदेव तो अवश्य नहीं; क्योंकि पिता वसुदेव वृद्ध हैं, बड़ी उम्र के हैं, यादवों के पूज्य हैं; किंतु अन्य पहचान में कृष्ण जिस रूप में अपने को सर्वश्रेष्ठ तथा समर्थ रूप में ही स्थापित करते हैं, उस प्रकार वसुदेव यादवों में सर्वश्रेष्ठ तथा समर्थ कभी सिद्ध नहीं हुए। फिर कृष्ण अपने को यहाँ ‘वासुदेव’ कहलवाते हैं—वसुदेव नहीं। पिता अग्रणी यादव वसुदेव हैं, उनका नामोल्लेख कभी वासुदेव के रूप में नहीं हुआ। इस प्रसिद्ध श्लोक में भी ‘कृष्णं वसुदेवसुत देवं’ कहा है। इस प्रकार ये वसुदेवसुत हैं तो फिर यह वासुदेव कौन हैं?

‘श्रीमद्भागवत’ तथा ‘हरिवंश’—इन दोनों ग्रंथों में ‘वासुदेव’ शब्द की आसपास निर्मित लगभग एक समान, पर कथानक में सहज अलग प्रकार की बात मिलती है। महाभारत में इस ‘वासुदेव’ शब्द को स्पष्ट करनेवाला कोई निश्चित उल्लेख मिलता नहीं है। भागवत और हरिवंश की कथा के अनुसार आर्यावर्त के पूर्व विस्तार में ‘पौंड्र’ नाम का राजा अपने को ‘वासुदेव’ कहलवाता था और कृष्ण के प्रभाव व ऐश्वर्य से ईर्ष्या करता था। कृष्ण के जैसा ही शंख, चक्र, धनुष, मणिमाला आदि चिह्न धारण करके उसने, हरिवंश के कथानक के अनुसार, कृष्ण की हत्या करने के लिए द्वारका पर आक्रमण किया था। उसकी इच्छा थी कि उसे एकमात्र वासुदेव के रूप में स्वीकार किया जाए और कृष्ण, जो वासुदेव के रूप में पहचाने जाते थे, यह बंद हो जाए। इस युद्ध में कृष्ण और पौंड्र के बीच जो वाद-विवाद होता है, उसमें पौंड्र कृष्ण से कहता है कि उसे वासुदेव के रूप में स्वीकार किया जाए। वह इस पद के लिए अपनी क्षमता का इस प्रकार वर्णन करता है—‘मैं शारंग धनुषधारी हूँ, मैं गदाधारी और फिर चक्रवर्ती भी हूँ, अतः मैं ही वासुदेव हूँ। तुम अपने को वासुदेव कहलाते हो, यह मिथ्या है; क्योंकि एक साथ दो वासुदेव नहीं हो सकते।’ इसके बाद ही युद्ध हुआ। उसमें पौंड्र ने कृष्ण की हत्या करने के लिए अपने चक्र का उपयोग किया था। इस चक्र की शक्ति से कृष्ण भी अभिभूत हो गए थे, ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। यद्यपि अंत में तो कृष्ण ने ही पौंड्र का वध किया है।

भागवत का कथानक सहज ही भिन्न है। पौंड्र ने कृष्ण को आह्वान भेजा था और फिर अपने मित्र काशी नरेश के साथ पहुँच गया था। यहाँ भी युद्ध का कारण तो वासुदेव की पहचान ही है। कृष्ण ने काशी पर हमला करके पौंड्र तथा काशी नरेश दोनों का वध किया था।

इस कथानक में जो संवाद है, उससे वासुदेव के चिह्नों की स्पष्टता हो जाती है। वासुदेव अर्थात् उसी प्रकार का

चक्रवर्तीपन हो, ऐसा लगता है। यह चक्रवर्तीपन विजयी सम्राट् के चक्रवर्तीपन अलग प्रकार का होगा; कारण, कृष्ण कभी राजा तो बने ही नहीं और ऐसा होते हुए भी आर्यावर्त में उन्हें वासुदेव के रूप में स्वीकार किया गया।

जैन दर्शन का आरंभ ऋषभदेव से हुआ है और ऋषभदेव महाभारत काल से अति प्राचीनकाल के हैं। इस जैन दर्शन के अनुसार महाकाल की दो अवस्थाएँ हैं—इसमें एक अवस्था उत्सर्पिणी अर्थात् मनुष्य को ऊपर ले जानेवाली है, दूसरी अवस्था अवसर्पिणी अर्थात् मनुष्य को नीचे ले जानेवाली है। इस प्रत्येक अवस्था में नौ वासुदेव होते हैं। यह वासुदेव के बारे में विगतवार कथा हेमचंद्राचार्य ने अपने ग्रंथ 'विशिष्ट शलाका पुरुष चरित्र' में लिखी है। १० पर्व और ३२०० श्लोकवाले इस ग्रंथ में ६३ शलाका पुरुषों का चरित्र लिखा गया है। इसमें २४ तीर्थंकरों, १२ चक्रवर्तियों, ९ वासुदेवों, ९ बलरामों और ९ प्रतिवासुदेवों का समावेश होता है; अर्थात् पदों के आधार पर यह क्रम बनाया गया है। यह देखते हुए वासुदेवों का क्रम चक्रवर्ती पद के पीछे होगा, ऐसा लगता है। इस दर्शन के अनुसार, अवसर्पिणी अवस्था में कृष्ण अंतिम वासुदेव हैं। प्रतिवादी वासुदेव यह खलनायक अथवा वासुदेव का विरोधी जैसा पात्र है। जैन महाभारत (लेखक श्री चंद्रशेखर विजय) में कृष्ण के प्रतिवासुदेव के रूप में जरासंध का उल्लेख है। इरावती कर्वे कृष्ण के प्रतिवासुदेव के रूप में कंस का उल्लेख करते हैं।

बौद्ध कथानकों में भी कृष्ण को वासुदेव कहा गया है; किंतु कृष्ण के पिता का नाम कहीं वसुदेव नहीं है। पिता वसुदेव के पुत्र के रूप में कृष्ण अपने को वासुदेव कहलवाते हैं तो बड़े भाई बलराम भी इसी रीति से वासुदेव कहे जाने चाहिए। इतना ही नहीं, वसुदेव के कहीं चार तो कहीं चौदह पत्नियाँ होने का भी उल्लेख है और इन पत्नियों से उसे अन्य पुत्र भी हुए हैं। जिस प्रकार पांडु के पुत्र पांडव कहलाए, कुरु के पुत्र कौरव, यदु के पुत्र यादव, उसी प्रकार ये सब वासुदेव होने चाहिए। किंतु वास्तव में कृष्ण के सिवाय अन्य किसी पुत्र को वासुदेव के रूप में नहीं पहचाना गया।

जैन कथानकों के अनुसार प्रतिवासुदेव पृथ्वी का तमाम ऐश्वर्य, सत्ता, समृद्धि सब प्राप्त कर लेते हैं। इसके बाद वासुदेव इन्हें परास्त कर प्राप्त करते हैं। इन वासुदेव की सहायता में हमेशा एक बलराम होता है। जिस प्रकार राम वासुदेव थे और लक्ष्मण उनके बलराम थे। रावण के प्रतिवासुदेव होने की बात जैनशास्त्र लिखते हैं। कृष्ण के प्रतिवासुदेव जरासंध ने पृथ्वी जीत ली थी और कृष्ण ने इसका वध करके वासुदेव पद प्राप्त किया। ऐसा सूचित किया गया है। महाभारत के अनुसार, जरासंध को युद्ध में पराजित करने के बदले कृष्ण ने मथुरा को छोड़कर द्वारका को बसाया था। फिर जरासंध सम्राट् अवश्य था; किंतु हस्तिनापुर राज्य का प्रताप, यह स्पष्ट है कि, मगध से अधिक था।

जैन धर्म के ये नौ वासुदेव और कालचक्र के दो विभाजन उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी को हिंदू धर्म के दशावतार तथा उत्तरोत्तर नीचे जाते जीवन के चार युगों—सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग तथा कलियुग—की कल्पना के साथ ऐसा सत्य है कि जो आँखों में समा जाता है। दशावतार की जो उत्तरोत्तर विकासशील अवस्था है, उसका तो मानव उत्क्रांति के साथ भी अद्भुत साम्य है। नील में से विकसित चैतन्य जलचर सृष्टि में से परम बुद्ध तक के मानव विकास की यह गाथा है। कल्कि के अंत में सबकुछ नए सिरे से आरंभ होता है।

हरिवंश में कृष्ण वासुदेव तथा पौंड्र वासुदेव के संघर्ष की जो कथा है, उसमें से एक आनुषंगिक प्रश्न भी उठता है। पौंड्र के पक्ष में निषादराज—भीलों का राजा एकलव्य लड़ता है। बलराम तथा एकलव्य के बीच भीषण युद्ध हुआ था, यह कहा जाता है। एकलव्य के दाएँ हाथ का अँगूठा द्रोणाचार्य ने गुरुदक्षिणा के नाम से वर्षों पूर्व माँग लिया था, यह कथा प्रसिद्ध है। एकलव्य फिर कभी धनुर्धारी न हो सके, इसलिए उसका अँगूठा माँग लिया गया। फिर भी पौंड्र के पक्ष में रहकर एकलव्य ने द्वारका पर हमला किया है, और बलराम के साथ प्रचंड युद्ध भी किया

है, यह हरिवंश के कथानक से स्पष्ट होता है। यह एकलव्य तीक्ष्ण बाण छोड़ता है, गदा के प्रहार से बलराम को घायल भी करता है। गुरु द्रोण ने जिसका अँगूठा प्राप्त कर धनुर्धारी के रूप में सदा के लिए पंगु कर दिया था, वही एकलव्य होगा कि अन्य कोई दूसरा? यदि वह वही एकलव्य हो तो वह धनुर्धारी के रूप में किस प्रकार पुनर्स्थापित हुआ होगा?



कृष्ण की कसौटी

अठारहवें दिवस का सूर्यास्त होने के पहले ही पांडव पक्ष के लिए युद्ध समाप्त हो चुका था; किंतु कौरव पक्ष के लिए अभी इस युद्ध का अंत नहीं आया था। भीम की गदा से जिसकी जंघा टूट गई है, वह दुर्योधन रक्त निगलती अवस्था में भूमि पर पड़ा है और अब उसके प्राण, देह-त्याग करने में अधिक समय नहीं है। स्वयं एक कदम आगे बढ़ना तो दूर रहा, अपना हाथ लंबा कर वह अब अंजुलि में जल भी ले सकने की अवस्था में नहीं है। देह की ऐसी विषम स्थिति के बीच भी उसके भीतर व्याप्त वैर, आकांक्षा और अभिमान लेशमात्र भी कम नहीं हुए हैं, इसकी सत्वर प्रतीति होती है। रात्रि का अंधकार जब गहरा होता है, उस समय कौरव पक्ष में दुर्योधन के अलावा जो तीन योद्धा—अश्वत्थामा, कृतवर्मा और कृपाचार्य—बचे हैं, वे दुर्योधन के पास आते हैं। ये तीन अर्थात् दो ब्राह्मण और एक यादव। कुरुवंश का पूरा नाश हुआ है। पांडवों से वैर लेने का स्वप्न देखता हुआ दुर्योधन जहाँ अश्वत्थामा को सेनापति पद पर अभिषिक्त करता है। कृपाचार्य से जल मँगवाकर वह धूल में रेंगते मुँह से रक्त थूकते हुए हाथ में जल लेकर अश्वत्थामा को सेनापति पद पर नियुक्त करता है तो यह दृश्य मानव अहंकार की चरम सीमा जैसा लगता है। अश्वत्थामा के इस सैन्य में अब दो ही व्यक्ति हैं—कृपाचार्य और कृतवर्मा। इस सैन्य को महाराज दुर्योधन पांडवों के नाश के लिए आगे बढ़ने की आज्ञा भी देता है। महाराज की इस आज्ञा को शिरोधार्य कर सेनापति अश्वत्थामा प्रतिज्ञा करता है—‘हे महाराज! सौगंधपूर्वक कहता हूँ कि आज रात्रि को ही श्रीकृष्ण देखते रहें, इस प्रकार मैं द्रौपदी पुत्रों की हत्या करूँगा।’ अश्वत्थामा की इस प्रतिज्ञा से अंतिम श्वास ले रहे दुर्योधन ने अति प्रसन्नता अनुभव की।

युद्ध पूरा हो गया है, यह मानकर विश्रांति अनुभव कर रहे पांडवों के शिविर में मध्यरात्रि में घुसकर अश्वत्थामा ने ये हत्याएँ कीं, इसका रोम खड़े कर देनेवाला भीषण वर्णन सौप्तिकपर्व के आरंभ में ही है। रात्रि के समय, वृक्ष पर सोए पक्षियों के घोंसले में घुसकर उनका संहार करते एक उल्लू को देखकर इस प्रकार पांडवों की हत्या करने की प्रेरणा उसे मिली थी। यहाँ उल्लू का सूचन अति सांकेतिक है। इसके बाद अश्वत्थामा द्रोणपुत्र नहीं, वीर योद्धा भी नहीं, ब्राह्मण भी नहीं, वह तो है उल्लू जैसे अधम पक्षी से प्रेरणा प्राप्त करनेवाला एक जीवात्मा मात्र। इसके बाद के उसके कृत्य इस संदर्भ में ही देखने होंगे।

कृतवर्मा और कृपाचार्य दोनों को शिविर के प्रवेश द्वार के पास घोर अंधकार में खड़े रखकर अश्वत्थामा ने अंदर सोए हुए पांडव सेनापति धृष्टद्युम्न और पाँच द्रौपदीसुतों की एक साथ हत्या कर डाली। इस भयानक रात्रि का सुंदर वर्णन गुजराती भाषा के हमारे कवि उमाशंकर ने एक काव्य में किया है—

कालीकराली शतयाश हस्ता,
रक्तांचला धूसर व्यस्त हारा,
ये पादरण द्विगुणांधकारा।

किंतु रात्रि की यह भयानकता यहीं पूरी नहीं होती। उसका रौद्र रूप तो अभी प्रकट होना शेष है।

पाँच द्रौपदीसुतों और छठे धृष्टद्युम्न का वध करके भागा हुआ अश्वत्थामा अपने सैन्य के साथ जलाशय के तट पर, जहाँ दुर्योधन अंतिम श्वास ले रहा है, आ पहुँचता है। उस समय दुर्योधन की चेतना लगभग नष्ट हो चुकी है, मुँह में से रुधिर बहता है और वह रुधिर बहने से भीगी हुई धरती की धूल उसके होंठों पर चिपकी है। उसके आसपास सियार, भेड़िए और अन्य वन्य-पशु घेरकर इस प्रकार खड़े हैं कि कब इस शरीर की चेतना चली जाए

और कब उसका भोजन किया जा सके। उसे सूँघकर आगे बढ़ते कुत्तों को भी वह दूर हटा नहीं सकता था। ऐसी अवस्था में अश्वत्थामा उसे शुभ समाचार देता है—‘पाँच द्रौपदीसुतों और छठे आचार्यघाती धृष्टद्युम्न का हमने वध कर डाला है। अब पांडव पक्ष में पाँच पांडव, छठे कृष्ण और सातवें सात्यकि बचे हैं।’ यह सुनकर दुर्योधन इतने उत्साह में आ जाता है कि वह कहता है—‘जो काम भीष्म, कर्ण अथवा मेरे पिता धृतराष्ट्र ने भी मेरे लिए नहीं किया, ऐसा प्रिय कार्य तुमने किया है। आज मैं अपने को इंद्र के समान समझता हूँ।’ और इतना कहते ही उसने प्राण त्याग दिए।

इसके बाद उसे पकड़ने के लिए पीछा करते भीम और अर्जुन के विरुद्ध उल्लू के इस शिष्य अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। ब्रह्मास्त्र की शिक्षा देते समय पिता द्रोण ने कहा था कि ‘यह शस्त्र कभी भी मानव जाति के विरुद्ध प्रयुक्त न किया जाए। इससे आक्रमण न किया जाए, मात्र संरक्षण ही धर्म है।’ पिता की इस आज्ञा की अवहेलना करके उसने भीम के विरुद्ध इस शस्त्र का प्रयोग किया। अश्वत्थामा के इस शस्त्र का निवारण करने के लिए अर्जुन ने ब्रह्मास्त्र का उलटा प्रयोग किया। अब तक कुरुक्षेत्र तक सीमित रहा विनाश मानो अब अंतरिक्ष को भी खा जाता हो, इस प्रकार आकाश में मँडरा रहा था। उसी क्षण महर्षि वेदव्यास स्वयं प्रकट होकर इन विनाशक शस्त्रों को लौटा लेने को दोनों से कहते हैं—‘यदि इन शस्त्रों को लौटा न लिया जाए तो समग्र विश्व का विनाश निश्चित है।’ वह समझाते हैं। अर्जुन का ब्रह्मास्त्र तो संरक्षणात्मक है, अतः धर्म्य है और अर्जुन उसे लौटा लेने का महर्षि को वचन भी देता है; किंतु अश्वत्थामा के लिए यह शक्य नहीं। उसने पांडवों के विनाश के लिए इस शस्त्र का प्रयोग किया है, अतः विनाश किए बिना वह शांत नहीं होगा। आखिर अश्वत्थामा ने अपने मस्तक पर रही मणि को पांडवों के चरणों में रखकर अपना जीवन बचाया; किंतु उसका वह ब्रह्मास्त्र अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा के गर्भ पर पड़ा और इस रीति से उसका शमन हो, यह निश्चित हुआ। विनाश बिना उसका गमन संभव ही न था। इस प्रकार पांडवों के वंश का ही मानो यहाँ अंत आया। उत्तरा का गर्भ भी तो एकमात्र शेष वारिस था। अब यही मृतप्राय हुआ। धर्म की स्थापना के लिए और धर्म की विजय के लिए कृष्ण ने इस महायुद्ध को स्वीकार किया था। यह धर्म कृष्ण के सामने ही इस प्रकार नष्ट हो जाए तो फिर इस युद्ध का अर्थ क्या?

इसीलिए उस क्षण कृष्ण अश्वत्थामा को कहते हैं—मानो कि उनसे कहलवाया जाता है—अपने आप प्रकट होते ये उद्गार—‘तूने पाप किया है, अश्वत्थामा! पाप कर्म करनेवाले को ऐसा ही फल मिलना चाहिए। तेरी इच्छा पूरी नहीं होगी। उत्तरा के जिस गर्भ का तूने नाश किया है, वह अवश्य संजीवन होगा और दीर्घकाल तक पृथ्वी पर शासन करेगा; किंतु तू अपने पापकर्म की सजा भोगता हुआ तीन हजार वर्षों तक इस पृथ्वी पर एकाकी दुर्गम अरण्यों में रोगिक अवस्था में भ्रमण करता रहेगा।’

पापी का सत्वर नाश करने के बदले कृष्ण ने यहाँ पापी को दीर्घायु दी है। यह दीर्घायु पापकर्म की सबसे कड़ी सजा है। पापकर्म का परिणाम ऐसा आता है, यह मानो आनेवाली पीढ़ियों को सूचित करना हो, इस प्रकार कृष्ण अश्वत्थामा को पृथ्वी पर भटकता छोड़ देते हैं। भावी पीढ़ियाँ पापकर्म से प्रेरित न हों, उससे दूर रहें, ऐसा ही कोई संकेत इसमें मिलता है।

किंतु यहाँ मानो कृष्ण ने अपना समग्र जीवन दाँव पर लगा दिया है। कृष्ण का कृष्णत्व ही मानो अग्निपरीक्षा देने के लिए तैयार हुआ है। उत्तरा के गर्भ का तो नाश हो चुका है। ब्रह्मास्त्र कभी निष्फल नहीं जाता। यह अस्त्र इस अजनमे बालक पर पड़ा है। श्रीमद्भागवत कहता है कि स्वयं कृष्ण ने उत्तरा के गर्भ में प्रवेश कर इस मृत बालक को संजीवन किया और इस प्रकार इस अजनमे बालक ने आँख खोलने के पहले ही—गर्भावस्था में ही—श्रीकृष्ण के दर्शन किए।

किंतु महाभारत की कथा सहज अलग है।

कृष्ण ने कहा तो सही कि उत्तरा के गर्भ को मैं जीवित करूँगा; किंतु वह किस प्रकार हो, बराबर दो महीने बाद उत्तरा ने जिस बालक को जन्म दिया, वह मृत ही था। इस मृत बालक को देखकर कुंती, सुभद्रा तथा स्वयं उत्तरा चीत्कार करती हैं, और बारंबार कृष्ण से कहती हैं—‘कृष्ण! तुमने ही कहा था कि यह बालक पृथ्वी पर शासन करेगा। अब तुम ही इसको जीवित करो।’ कृष्ण, जिस खंड में प्रसूता उत्तरा सोई है, उस खंड में प्रवेश करते हैं, तब महाभारत कहता है—‘वृद्ध पर रमणीय परिचारिकाएँ प्रसूता की सेवा में उपस्थित थीं।’ प्रसूति के समय सामान्य परिचारिकाएँ नहीं, किंतु वृद्ध अनुभवी स्त्रियाँ ही सहाय रूप होती हैं, इस सत्य का यहाँ सरस संकेत किया है। मृत पुत्र को गोद में लेकर बैठी उत्तरा बेहोश होकर कृष्ण के पाँवों में गिर पड़ती है।

अंत में, यहाँ कृष्ण अपने समग्र कृष्णत्व को होड़ में रख देते हैं। मानो महाकाल के साथ यह कृष्णत्व टक्कर लेता है। कृष्ण कहते हैं—‘यदि मैंने सदा ही सत्य और धर्म का अवलंबन किया हो तो हे महाकाल! यह मृत बालक जीवित हो जाए। यदि मैंने लेशमात्र भी मिथ्या वचन न कहा हो तो यह बालक जीवित हो जाए।’

प्रचंड था यह पल।

मृत को जीवित करना प्रकृति का क्रम नहीं है। कृष्ण ने यहाँ इस प्रकृति क्रम को उलट दिया है। मृत बालक तो कृष्ण के इस वेण के साथ जीवित हुआ, महाभारत ऐसा कहती है; किंतु ऐसा किस प्रकार हो सकता है? क्या प्राकृतिक क्रम सचमुच बदल सकता है? ऐसा प्रश्न यहाँ किसीके भी मन में उठ सकता है।

किंतु इस प्रकार गर्भावस्था में ही ब्रह्मास्त्र से बालक के जीवन का अंत कर देने को क्या प्राकृतिक क्रम कहा जा सकता है? यह मृत्यु ही अप्राकृतिक थी। प्रकृति पर पाशवता की विजय थी। पाशवता की इस विजय को यदि नतमस्तक होकर स्वीकार कर लिया जाए तो सनातन धर्म के मूल्य ही समूल नष्ट हो जाएँ। कृष्ण की समग्र धर्म-मीमांसा का यही तो मर्मस्थान है। इस केंद्र स्थान से ही कृष्ण ने यहाँ अपने व्यक्तित्व को ही होड़ में लगा दिया। घड़ी-भर के लिए मान लें कि इतना कहने के बाद यदि वह बालक जीवित न हुआ होता तो कृष्ण के कृष्णत्व को स्वीकार कौन करता? अपने एक-एक कदम में सत्य और धर्म का सदा ही अवलंबन किया हो, ऐसा व्यक्ति इतने आत्मविश्वास के साथ ऐसा कह सकेगा और जिसमें यह आत्मविश्वास हो, वह व्यक्ति घड़ी भर प्रकृति को ही न कह सके, क्या इस प्रकार कह सकता है।

दूसरी रीति से भी इस घटना को समझा जा सकता है। कृष्ण के जीवन के कितने ही प्रकट विसंवाद हैं। धर्म और सत्य के सूक्ष्म तत्त्व को जो जानता नहीं, उसे कृष्ण के जीवन में कितनी ही बार अधर्म अथवा असत्य का आचरण हुआ, ऐसा लगता है। ऐसे नासमझों की गैर समझ को दूर करने के लिए कदाचित् इस प्रसंग का आयोजन हुआ हो। कृष्ण के जीवन में जो प्रकट विसंवाद हैं, वे मूल में तो परमधर्म और सत्य के आचरण ही हैं, अतः कृष्ण अपने इन तत्त्वों को एक पलड़े में रखें और उसके सामने के पलड़े में प्रकृति व महाकाल को, तो भी इन परम तत्त्वों को स्वीकार करना पड़ेगा। धर्म और सत्य का आचरण तथा कभी मिथ्यावादन न करनेवाले का जीवन इतना तो भव्य है कि यह व्यक्ति जीवन-मृत्यु के प्रकृति तत्त्वों को भी चुनौती दे सकता है। इन तत्त्वों की महिमा इस घटना द्वारा इंगित हुई हो, यह भी संभव हो सकता है।

इसके बाद आश्वमेधिकपर्व के इकसठवें अध्याय में तुरंत ही कहा है—‘बालक की देह पर लगा हुआ अस्त्र दूर हुआ और पितामह के पास चला गया।’ यह पितामह अर्थात् कौन, यह अस्पष्ट है। अर्जुन ने इस अस्त्र का प्रतिकार किया था। अतः उसके पास पहुँचकर वह शांत हो गया, ऐसा अभिप्रेत होगा। इसका यही अर्थ होता है कि इस अस्त्र के प्रभाव से बालक की चेतना चली गई थी। कृष्ण ने इस अस्त्र को वहाँ से हटा लिया।... यहाँ आचार्य रजनीश का

एक तर्क सहज आश्रय लेने योग्य है। बाल्यावस्था में कृष्ण को मार डालने के लिए अनेक प्रयास हुए; किंतु प्रत्येक प्रयास में से कृष्ण सदा ही उबर गए। खुद विष-प्रयोग भी उन्हें मार नहीं सका। यह कैसे हो सकता है? रजनीशजी कहते हैं—‘मृत्यु तो उसे ही मारती है, जो मृत्यु से सतत भय खाते हैं; जो मृत्यु से सहज ही भयभीत नहीं होते, उन्हें मृत्यु स्पर्श कर सकती ही नहीं। मृत्यु के सामने यह निर्भयता ही मनुष्य को जीवन देती है।’ कृष्ण ने इस निर्भयता का अभ्यास किया था और निर्भयता के इस अभ्यास को ही उन्होंने उत्तरा के मृत बालक में सींचा। यही उसका पुनर्जीवन!



तो नाश प्राप्त करो तुम वृष्णिवंश

महायुद्ध का पहला प्रहार भी अभी जहाँ हुआ नहीं था—अठारह दिवस के अंत में अठारह अक्षौहिणी में से मात्र सात ही व्यक्ति शेष बचे थे, ऐसे महाविनाश की पूर्व संध्या—कृष्ण ने अर्जुन को एक बात कही। वह बात—श्रीमद्भगवद्गीता, श्री गुणवत्तशाह जिसको कृष्ण की मानव जाति को दी गई प्रोमिसरी नोट कहते हैं, ऐसा एक अपूर्व वचन कृष्ण ने गीता के ध्यानयोग नाम के छठे अध्याय में कही है—श्रद्धा के अपूर्व घोष के साथ, कृष्ण ने मात्र अर्जुन को ही नहीं, मात्र वर्तमान को ही नहीं, युगांतरों तक आनेवाली पीढ़ियों की समग्र मानव जाति को, समग्र भविष्य को एक परम ज्योति के प्रकाश के बीच रख दिया है। यह ज्योति है, कृष्ण के वेण है। ‘न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति’। कल्याण मार्ग पर जानेवाले की कभी भी दुर्गति नहीं होती, वत्स! अदम्य है यह श्रद्धा।

किंतु पचास, साठ अथवा सत्तर—जितने वर्ष के अपने आयुकाल में, कृष्ण का यह प्रोमिसरी नोट क्या सहजता में हमें भुनाना नहीं चाहिए? इसके विपरीत कभी गांधीजी ने क्रिप्स मिशन के प्रस्ताव को जिस प्रकार टूटे हुए बैंक पर चेक बताया है, उसी प्रकार कृष्ण का यह प्रोमिसरी नोट भी दिवालियापन के नमूने जैसा हमें पहली दृष्टि में दिखाई देता है। कृष्ण जैसा कृष्ण का प्रोमिसरी नोट, क्या इस प्रकार दिवालियेपन का नमूना हो सकता है? दोष उस प्रोमिस का नहीं, दोष इस प्रोमिस को समझ सकने की हमारी मर्यादा का है। यह प्रोमिसरी नोट ‘ओन डिमांड नहीं’, ‘ओन मैच्युरिटी’ है। सर्वाधिक हुंडी की राशि दर्शनी हुंडी के रूप में प्राप्त करने की हमारी उतावली का ही दोष है।

ये वेण कृष्ण ने महायुद्ध के पहले ही दिन उच्चरित किए और इसके साक्षात्कार के परम कपटी पल, इस युद्ध के ही अंतिम दिन स्वयं कृष्ण के जीवन में निर्मित हुई, इसे काल की क्रूर विडंबना कहना चाहिए अथवा कवि न्याय? अठारह दिन में जो विनाश हुआ, वह तो खंड-खंड था। उन्नीसवें दिन का प्रभात इस विनाश का लेखा-जोखा ही नहीं, उसका गुणाकार कर दिखाता है। उन्नीसवें दिवस का यह गुणाकार अन्य किसीकी नजर से नहीं; किंतु जिसने स्वैच्छिक अंधापन भोगा है, उस गांधारी की नजर से वेदव्यास ने निष्पादित किया है। धृतराष्ट्र आजन्म अंधे हैं; किंतु उन्होंने संजय की सहायता से युद्ध का प्रत्येक पल देखा है—गांधारी युद्ध के दृश्यों से सर्वथा अनभिज्ञ है और इस गांधारी को यह महाविनाश नजरानेजर देखने का अवसर प्राप्त होता है, इसे महर्षि व्यास की कृपा कहें या एक बार फिर इसे कवि न्याय कहें? उन्नीसवें दिवस को सवेरे कुरुक्षेत्र देख सकने जैसी दिव्य दृष्टि गांधारी को प्राप्त होती है और उन्नीसवें दिवस का यह कुरुक्षेत्र गांधारी कृष्ण, धृतराष्ट्र, सब पांडवों, कुंती तथा द्रौपदी के साथ देखती है।

सबसे पहले महाराज धृतराष्ट्र पराजय और हताशा के कारण रोषयुक्त हैं। भीम से भेंट करने के बहाने उसका नाश कर डालने का संकल्प उनके चेहरे पर प्रकट हुआ, यह कृष्ण की विचक्षण दृष्टि से छुपा न रहा। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के संकल्प भले ही मन की गहराई में घुमड़े हों, किंतु उनका प्राकट्य चेहरे की रेखाओं पर हुए बिना नहीं रहता। इस प्राकट्य को परखने के लिए कृष्ण दृष्टि चाहिए। भीम के बदले भीम की कोई प्रतिमा रखकर कृष्ण ने धृतराष्ट्र के रोष प्रदर्शन से भीम को बचा लिया। भीम की यह वही प्रतिमा थी, जिसे दुर्योधन ने बनाया था। तेरह वर्ष के वनवास के बाद जो युद्ध होने की संभावना थी, उसके लिए दुर्योधन अविरत तैयारी कर रहा था। इसमें मुख्य रूप से भीम के साथ का संभावित गदायुद्ध था। इस गदायुद्ध में प्रतिस्पर्धी भीम को परास्त करने की एक योजना के एक भाग के रूप में दुर्योधन जो अभ्यास करता था, उसके लिए उसने भीम का पूरी तरह मिलता-जुलता वह पुतला बनवाया था। भीम को वह परास्त तो नहीं कर सका, उल्टे वह पुतला ही भीम का जीवन-रक्षक बन

गया। इसे कैसा न्याय कहा जाए!

धृतराष्ट्र का नकटापन तो देखो। भीम के पुतले को भीम मानकर कुचल डालने के बाद उसने विलाप शुरू किया। वास्तव, में भीम के बदले अपने ही शक्ति प्रदर्शन से जो रक्त और रुधिर अपनी देह से बहने लगा था, उसे भीम की देह से बहनेवाला रक्त व रुधिर मानकर उसने 'हा भीम', 'हा भीम' कहना शुरू किया (स्त्रीपर्व, अध्याय २, श्लोक २२) धृतराष्ट्र के इस निर्लज्ज आचरण के समय कृष्ण कहते हैं—'महाराज! आपने भीम की हत्या नहीं की। भीम की हत्या का विचार भी आपको करना नहीं चाहिए था। आपके एक सौ पुत्रों की बिदाई के बाद वे शेष पाँचों पांडव ही आपके पुत्र हैं। उन्हें पुत्रवत् स्वीकार कर आशीर्वाद दो, राजन्।' अब धृतराष्ट्र में समझ पैदा होती है। वह वास्तविकता को स्वीकार कर कहते हैं—'हे महाबाहु कृष्ण! तुम ठीक कहते हो। पुत्रप्रेम ने मुझे पहले अंधा बना दिया था। आज भी ऐसा ही हुआ। अब मैं पांडुपुत्रों को ही पुत्रवत् मानकर आशीर्वाद देता हूँ।' और यह कहकर वह दूसरी बार भीम से मिले तो भीम का पुतला नहीं, स्वयं भीम ही था और उस समय सब सकुशल रहा।

किंतु एक सौ पुत्रों की जननी होने पर भी अब उस अपुत्र गांधारी के रोष का सामना करना शेष था। जब पांडव गांधारी के सम्मुख प्रस्तुत होते हैं, उस समय गांधारी के मन में भी रोष और हताशा से मन से प्रकट उनका शाप चक्कर लगाता है। यदि शाप प्रकट हो तो पांडवों का नाश निश्चय हो जाए। इसके प्राकट्य को रोकने के लिए स्वयं महर्षि वेदव्यास निमित्त बनते हैं। पांडवों पर नजर पड़े, उसके पहले ही व्यास गांधारी से कहते हैं—'गांधारी, तेरे मन में जो भावना प्रकट हुई है, उसे शांत कर दे। जो बात तू कहना चाहती है, उसे होंठों से बाहर आने से रोक दे, पुत्री! दुर्योधन ने जब विजय के लिए तेरा आशीर्वाद माँगा था तो तूने कहा था—'यतो धर्मस्ततो जयः', इसे मत भूलना। क्रोध सब अनर्थों का मूल है, उसे वश में कर ले, देवी।' इन सद्बचनों के उत्तर में जनेता गांधारी, सत्यवादिनी गांधारी; भीम ने युद्ध के नियमों से हटकर जो अधर्म का आचरण किया था, उससे व्यथित गांधारी और सबसे विशेष तो अंधपति धृतराष्ट्र की व्यथा से पीड़ित गांधारी सब दुःखों से एक साथ पीड़ित होकर आक्रंद कर उठती है। वह कहती है—'सब सच हो तो भी भीम ने अधर्म का आचरण किया है, इसका इनकार किस प्रकार किया जा सकता है! मेरे एकाध पुत्र को यदि उसने जीवित रखा होता तो अंध राजा धृतराष्ट्र का दुःख हलका होता।' यह कहकर उसने युधिष्ठिर के सामने चेहरा घुमाया। उस समय आँखों पर बँधी पट्टी के आर-पार ही रोषाग्नि प्रकट हुई, इससे युधिष्ठिर के पैर के नख संपूर्ण काले पड़ गए। इस प्रकार जो विद्युताग्नि शेष पांडवों का नाश कर सकती थी, उसका शमन हुआ—'शूली का दर्द मानो सहज ही शांत हुआ।'

किंतु इस दर्द का शमन हुआ, सर्वांश में ऐसा नहीं कहा जा सकता। व्यास द्वारा मिली दिव्य दृष्टि से गांधारी ने कुरुक्षेत्र का जो दृश्य देखा, उससे वह पुनः विचलित हो जाती है। सभापर्व के पूरे दस अध्याय (१६ से २५) में महाविनाश का चित्रण हुआ है, यह अच्छे-अच्छे मजबूत दिलवाले मनुष्यों को भी कैंपा सकता है। युद्ध की भयानकता का यह महादृश्य चित्रण युद्ध की निरर्थकता का द्योतक है। भीष्म से लगाकर अभिमन्यु तक तमाम आप्तजनों की छिन्न-भिन्न देह—कौए, कुत्ते, सियार तथा गिद्धों के लिए दावत बन गई हों—इस प्रकार पड़ी हैं। सैकड़ों स्त्रियाँ अपने पति, भाई, पुत्र अथवा पिता के अंगों को खोज रही हैं। यह बीभत्स दृश्य देखकर गांधारी कृष्ण से कहती है—'केशव! मैंने पूर्वजन्म में अवश्य घोर पाप किए होंगे कि यह क्षण देख रही हूँ।' इस प्रकार पहले रोष के बदले उसमें ज्ञान ही प्रकट होता है, किंतु यह ज्ञान तत्काल मोह से भ्रष्ट हो जाता है। दुर्योधन की टूटी हुई जाँघ का मृत देह और उस देह के सामने विलाप करती पुत्रवधू को जब वह देखती है तो उसका मातृत्व पुनः आक्रंद कर उठता है, उसे पुनः भीम की अनीति याद आ जाती है। इस अनीति से भी विशेष पुत्रवधू और पुत्रियों का विलाप उसे स्पर्श कर जाता है। वह कृष्ण का ध्यान उन स्त्रियों की ओर खींचती है—'देखो-देखो, कृष्ण! कहीं पति का हाथ

गोद में लेकर रुदन करती स्त्रियाँ, कहीं हिंसक पशु द्वारा आधे खाए गए चेहरेवाले पुत्र की माता—इन सबका क्या अपराध था, कृष्ण?’ और इस प्रकार पुनः एक बार गांधारी का रोष उबलता है। रोष उबलता है जरूर, किंतु इसमें अभी तक तो मोड़ मिला हुआ था। रुदन करनेवाली स्त्रियों में भानुमति अथवा पुत्री दुःशला हो, वहाँ तक वह मोहवश कही जाएगी; किंतु यहाँ तो गांधारी सोलह वर्ष की बालिका—पौत्रवधू उत्तरा को भी देखती है। इस बालिका का रुदन उसे स्पर्श कर जाता है। उस समय गांधारी की व्यथा मोहग्रस्त नहीं; किंतु मानवी अनुकंपा के क्षितिज को स्पर्श करती है। भानुमति तो गांधारी की पुत्रवधू थी, किंतु उत्तरा तो कुंती की पौत्रवधू है। उसका विलाप गांधारी सह नहीं सकती। इसमें भी जब उत्तरा मृत अभिमन्यु को संबोधित करते हुए कहती है—‘हे वीर! तुम छह महीने ही मेरे साथ रहे। सातवें महीने तुम चले गए।’ उस समय तो गांधारी बिलकुल टूट ही पड़ती है।

अब तक पुत्रमोह से व्याप्त गांधारी का मोह जिस क्षण उत्तरा के आक्रंद के साथ मानवीय करुणा से व्याप्त हुआ, उस समय उसका परिणाम बदल गया। अब वह माता नहीं रही, पतिभक्त सती भी नहीं रही, वह तो हो जाती है मानवी करुणा; जिसके रोम-रोम में व्याप्त हो गई है ऐसी व्यथित, पीड़ित, विनाश देखकर द्रवित— ऐसी करुणा की मूर्ति। उसका मन आक्रंद कर उठता है। इस आक्रंद में रोष है। इस रोष को अब वह कहाँ ढाले? पुत्र युधिष्ठिर के नख काले पड़ गए, उसके बाद अब पांडवों का नाश करने की क्षमता नहीं रही। पांडवों पर शाप की वर्षा न करने की विनय वेदव्यास ने की है। फिर इस विनाश के लिए जो कोई उत्तरदायी हो, उसको इस करुणा से प्रकट होनेवाला रोष स्पर्श भी न करे, यह किस प्रकार होगा? इस विनाश के लिए उत्तरदायी कौन?

यहाँ गांधारी की दृष्टि कृष्ण की ओर मुड़ती है। कृष्ण ने युद्ध रोकने के लिए सभी प्रयास अंतिम घड़ी तक किए हैं और इसमें उन्होंने गांधारी का साथ भी लिया था, यह गांधारी भी जानती है और ऐसा होते हुए भी इस समय गांधारी का रोष शांत कर सके, ऐसा दूसरा पात्र ही कहाँ बचा है। वह कृष्ण पर रोष उड़ेलती है। वह कहती है—‘हे मधुसूदन! तुम समर्थ थे। संधिवार्ता की निष्फलता के बाद भी तुमने सोचा होता तो दुर्योधन आदि को पकड़कर युद्ध रोक सकते थे। यह परिणाम जानते हुए भी तुमने यह संहार होने दिया। इसलिए तुम्हारे कर्म का फल तुम्हें भी भोगना पड़ेगा। जिस प्रकार तुमने कौरवों और पांडवों को विनाश से रोका नहीं, उसी प्रकार तुम्हारा समग्र यदुवंश भी परस्पर एक-दूसरे का विनाश करेंगे, यह शाप मैं तुम्हें देती हूँ।’

महा भयानक था यह शाप। यद्यपि विनाश रोकने के लिए पूरा-पूरा सन्निष्ठ प्रयत्न किया था। इस विनाश की पूरी जिम्मेदारी अपने पर ही आती थी। इतना ही नहीं, इस उत्तरदायित्व के फलस्वरूप समग्र वृष्णिवंश के नाश की अति प्रचंड, अन्यायी सजा भी हुई थी। अन्य कोई भी मनुष्य इस क्षण क्षुब्ध हो जाएगा। सारासार का विवेक गँवाकर जवाबी अविवेक भी कर डालना। ‘न हि कल्याणकृत्-कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति’। इस वचन की कसौटी का पल मानो प्रकट खड़ा रह गया। कृष्ण के तमाम प्रयास कल्याणकृत ही थे और ऐसा होने पर भी ऐसी घोर दुर्गति किस प्रकार प्राप्त हुई? तो इस बात को भावी पीढ़ियाँ किस प्रकार स्वीकार कर सकेंगी? स्वयं कृष्ण जो कल्याणकृत के बाद ऐसी दुर्गति के अधीन हुए तो इस वचन का विश्वास कौन करेगा?

किंतु कृष्ण विचलित नहीं हुए। अपने खुद के वचन की यथार्थता मानो सहज भाव से प्रकट होती है। नाश तो सहज कर्म है। जन्म के साथ ही इसका संधान हुआ है। यादव तो अति समर्थ हैं; फिर कृष्ण-बलराम जैसे प्रचंड व्यक्तियों से रक्षित हैं—उनका सहज नाश किस प्रकार हो? उनका नाश कोई बाह्य शक्ति तो कर ही नहीं सकती। कृष्ण इस सत्य को समझते हैं और इसलिए माता गांधारी के शाप के समय केवल कृष्ण हँसते हैं। ऐसा हास्य करके कहते हैं—‘माता! आपका शाप आशीर्वाद मानकर स्वीकार करता हूँ; कारण, यादवों का सामर्थ्य उनका अपना नाश करे, यही योग्य है। उनको दूसरा कोई परास्त नहीं कर सकता।’ कृष्ण का यह दर्शन यादव परिवार के नाश की

घटना के समय देखने योग्य है। अति सामर्थ्य विवेक का त्याग कर देता है और विवेकहीन मनुष्य को जो कालभाव सहज रीति से प्राप्त न हो, तो जो परिणाम आए, वही तो खरी दुर्गति है। कृष्ण इस दुर्गति के समग्र वृष्णिवंश को उबार इस शाप को आशीर्वाद मानकर स्वीकार करते हैं। इसमें ही रहस्य समाया हुआ है।

एक बार इस शाप को सहेजिक रूप से स्वीकार करने के बाद, तुरंत ही कृष्ण कहते हैं—‘माता गांधारी! तुमने मुझे दोषी तो ठहराया; किंतु तुम कैसे भूल जाती हो कि दुर्योधन को समझाने में तुम भी निष्फल रही थीं। अब जो हुआ है, उसके लिए शोक करना व्यर्थ है। तुम स्वस्थ हो जाओ और शेष पांडुपुत्रों को आशीर्वाद दो।’

इस प्रकार ‘न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति’ कृष्ण द्वारा भाषित इस वचन के साक्षात्कार का पल गुजर गया। दुर्गति—यह इंस्टंट परिणाम नहीं, यह दूरगामी परिणाम है। जो यह दूरगामी दृश्य देख सकता है, वही इस दुर्गति का पार पा सकता है। कृष्ण के इस कथन के साथ ही ‘गीता’ द्वारा भाषित एक अन्य कथन भी यहाँ नोट करने लायक है। कृष्ण ने कहा है कि ‘नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः’—जो असत्य है वह है ही नहीं। जो नहीं है, उसके लिए चिंता किसलिए करना? और जो है उसका इनकार किसलिए? सत्य और असत्य—ये दोनों तत्त्व एक इतने ही परिप्रेक्ष्य में समझ में आ जाएँ, फिर कितने ही दिखाई देनेवाले प्रश्न हल हो जाते हैं। ‘कल्याण’ और ‘दुर्गति’—इन दो शब्दों को इस संदर्भ में ही समझ लें तो फिर कृष्ण का प्रोमिसरी नोट भुनाने कहीं जाना न पड़ेगा। स्वयं कृष्ण इसका फैसला करने के लिए द्वार आकर खड़े रहें।

□

विद्यावंतों की भागवत परीक्षा

श्रीकृष्ण दर्शन के लिए हमारे पास जो ग्रंथ उपलब्ध हैं, उनमें महाभारत के अलावा हरिवंश और श्रीमद्भागवत मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त विष्णुपुराण तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण जैसे पुराणों में कृष्ण के विषय में ठीक-ठीक लिखा गया है। फिर वायुपुराण अथवा पद्मपुराण जैसे अन्य पुराणों में भी कृष्ण विषयक उल्लेख है। इन सबमें महाभारत, हरिवंश और भागवत—ये तीन सबसे अधिक विश्वसनीय और प्रमाण में प्राचीन कहे जा सकते हैं। महाभारत के अलग-अलग स्तरों के बारे में मत-मतांतर हैं। यह स्वीकार करने के बाद मूल जयसंहिता की प्राचीनता तथा इसमें जो उल्लेख हुआ है उसकी श्रद्धेयता के बारे में थोड़ी भी चर्चा का अवकाश नहीं है; हाँ, वितंडावाद अवश्य किया जा सकता है।

महाभारत के आदिपर्व के आरंभ में ही, जिसे समग्र ग्रंथ की अनुक्रमणिका कहा जा सकता है, ऐसा पूर्व संग्रह पर्व दूसरा अध्याय है। इसमें हरिवंश का उल्लेख है। अठारह पर्व के विस्तृत आलेखन के बाद महर्षि व्यास ने हरिवंश के दो पर्वों की रचना की, ऐसी स्पष्टता यहाँ मिलती है। (हरिवंश की वर्तमान प्रचलित आवृत्ति में तीन पर्व हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि इस ग्रंथ में एक पर्व पीछे से जोड़ा गया है।) महाभारत के व्यास ही हरिवंश के कर्ता व्यास हैं अथवा अन्य कोई, इस विषय में मतभेद है ही; क्योंकि जिस अनुकंपा पर आधार रखकर हरिवंश के कर्ता को ही महाभारत कर्ता माना गया है, उस अनुक्रम के पर्व में किसीने यह श्लोक पीछे से जोड़ा हो, ऐसी संभावना से इनकार किया जाना संभव नहीं है। सूक्ष्म दृष्टि से हरिवंश का लेखन—उसकी भाषा, शैली और कथयितव्यों तक महाभारत से अलग पड़ता है। यदि ऐसा हो तो हरिवंश महाभारत के थोड़े ही समय बाद अर्थात् एक-दो शताब्दी बाद रचा गया है, यह तर्कसंगत लगता है।

किंतु भागवत के बारे में इस प्रकार विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता। भागवत का रचनाकाल विद्वानों ने ईस्वी संवत् पूर्व ३००० (अर्थात् जो महाभारत काल को पाँच हजार वर्ष प्राचीन मानते हैं) से लगाकर ईस्वी सन् की तेरहवीं शताब्दी तक लंबा करते हैं। भागवत की प्राचीनता महाभारत जितनी ही है, यह माननेवाले इसके कर्तृत्व का यश भी महाभारत के कर्ता व्यास को ही देते हैं। शाक्त मत के अनुसार तो भागवत को पुराण के रूप में ही स्वीकार नहीं किया जाता; वह तो मानते हैं कि तेरहवीं शताब्दी में देवगिरी के राजा हेमाद्रि के दरबार के बोपदेव ने यह ग्रंथ रचा है और व्यास का इसके कर्तृत्व के साथ कोई संबंध नहीं है। इच्छाराम सूर्यराम देसाई मानते हैं कि भागवत को आदि शंकराचार्य के पूर्व एक या दो सौ वर्षों पहले रचा गया होगा। आदि शंकराचार्य का समय आठवीं सदी माना जाता है और उनके द्वारा रचित ग्रंथ 'सर्व सिद्धांत संग्रह' में यह उल्लेख है कि भागवत में कृष्ण ने उद्धव को अवधूत मार्ग बताया है। यह कहकर इच्छाराम सूर्यराम देसाई ने भागवत का रचनाकाल शंकराचार्य पूर्व एक सौ से दो सौ वर्ष माना है।

किंतु इन महाग्रंथों का रचनाकाल अथवा उनके कर्तृत्व की चर्चा करना यहाँ हमें अभिप्रेत नहीं है। यहाँ जिस मुद्दे पर बात करना है, वह मुद्दा वास्तव में कृष्ण दर्शन की चर्चा को भी सीधे रूप में स्पर्श नहीं करता। इतना होने पर भी यह मुद्दा मात्र अति रसप्रद ही नहीं; किंतु हम जिसे भागवत कथा का स्तंभ मानते हैं, उस परीक्षित राजा की घटना को ही मूल से हिला देता है। यदि यह मूल स्तंभ ही हिल जाए तो फिर इस स्तंभ पर खड़ा ग्रंथ भागवत भी नए सिरे से विचारणीय हो जाता है। भागवत की श्रद्धेयता घटाने की यह बात नहीं है। भागवत में निहित दर्शन, भक्ति, कृष्ण-चरित्र—यह सब करोड़ों मनुष्यों की रग-रग में प्रवाहित रक्त में मिल गया है; अतः इस श्रद्धा पर प्रहार

करके कोई अति बौद्धिक आयास का जो फैशन प्रचलित है, उस प्रवाह में गोते लगाने की यह बात नहीं है। यह एक रसप्रद निरीक्षण मात्र है।

सैकड़ों वर्षों से श्रीमद्भागवत कथा के कथाकारों ने एक बात कही है—परीक्षित ने शमीक ऋषि के गले में मृत साँप पहनाने का जो अविवेक किया, इसपर क्रोध में भरकर शमीक ऋषि के पुत्र शृंगी ने शाप दिया कि आज से सातवें दिन तक्षक नाग के काटने से राजा की मृत्यु होगी। पिता शमीक को जब इस शाप की बात ज्ञात हुई तो उन्होंने गौरमुख नामक अपने शिष्य को राजा परीक्षित के पास भेजा और इस शाप की जानकारी उन्हें दी। यहाँ तक की बात का जहाँ तक संबंध है, वहाँ तक यही बात महाभारत के आदिपर्व के अड़तीसवें अध्याय के इक्कीसवें श्लोक तक में वर्णित हुई है। इसके बाद की जो घटना है, उसके बारे में महाभारत और भागवत आमने-सामने खड़े हैं। वह आमने-सामने का विवाद अति रसप्रद है।

भागवत कहता है कि शाप की यह बात जानकर राजा परीक्षित ने स्वस्थचित्त हो अति नम्रतापूर्वक कहा कि जो हुआ है, वह योग्य ही हुआ है। अब मुझमें विषयों के प्रति जो आसक्ति है, उसका नाश तक्षक की विष रूपी अग्नि से होगा। (प्रथम स्कंध, अध्याय ३) यह कहकर राजा अनशन व्रत ग्रहण करके गंगातट पर जाकर बैठ गए। राजा ज्यों ही मृत्यु के साहसिक स्वीकार के लिए तत्पर हुए कि तुरंत ही महर्षि अत्रि वसिष्ठ, भृगु, पराशर, भारद्वाज, गौतम, नारद तथा स्वयं वेदव्यास सहित वहाँ आ पहुँचे। राजा ने इन सबकी पूजा करके उनसे प्रार्थना की कि ईश्वर में मन लगानेवाला मैं अब आपकी शरण में आया हूँ। तक्षक मुझे डसे, इसके पहले आप सब मुझे भगवान् विष्णु की कथाएँ कहें। परीक्षित ने जब यह बात कही तो तुरंत ही अंतरिक्ष के देवताओं ने हर्षध्वनि एवं पुष्पवृष्टि की, और सब ऋषियों ने—जब तक राजा का प्राण देह-त्याग न करे—तब तक वहीं रहने का निश्चय किया तथा व्यासजी के पुत्र शुकदेव ने राजा को श्रीमद्भागवत की कथा सुनाने की शुरुआत की।

अब महाभारत के आदिपर्व, अध्याय ३८ के श्लोक २२ से ३० में इसी घटना का इस प्रकार उल्लेख किया गया है, उसे देखें। शाप की यह बात जानकर राजा शोक-संतप्त तथा दुःखी हो गए। ऋषिकुमार शृंगी उनपर पुनः प्रसन्न हो जाएँ, ऐसी प्रार्थना करके गौरमुख को बिदा किया और फिर 'संविग्न मानस' अर्थात् व्याकुल चित्त से इस आपत्ति में से बचने के लिए मंत्रियों के साथ मंत्रणा की। फिर संपूर्ण सुरक्षित एक ऐसा दंडी महल तैयार करवाया और उसमें पौधों, ओषधियों तथा मंत्रसिद्ध ब्राह्मणों की व्यवस्था की। इसके बाद ऐसे सुरक्षित स्थान में बैठकर उसने राज-काज करना शुरू किया। इसमें कहीं शाप के साहसिक स्वीकार की बात नहीं, स्वस्थचित्तता नहीं, ईश्वरपरायणता नहीं। महाभारत के इस परीक्षित को यदि हम स्वीकार करते हैं तो शुकदेवजी ने उसे भागवत कथा सुनाई, इस बात का मूल ही समाप्त हो जाता है।

सातवें दिन तक्षक नाग जिस तरह राजा को डसता है, यह बात दोनों ग्रंथों में लगभग समान है। काश्यप नाम का एक ब्राह्मण, जो चाहे जैसे सर्प का विष उतार देने में समर्थ है, वह राजा को पुनर्जीवित करके पुष्कल धन प्राप्त करने के लालच में जा रहा है। तक्षक इस ब्राह्मण के सामर्थ्य को जानता है, अतः मार्ग में इस ब्राह्मण को बुलाकर कहता है—'हे द्विजोत्तम! राजा के पास से तुमको जितना धन मिलने की अपेक्षा हो, उससे कई गुना धन मैं आपको देता हूँ, उसे स्वीकार करके आप पीछे लौट जाएँ।' और यह 'द्विजोत्तम' (संबोधन में कैसा कटाक्ष है) धन की गठरी बाँधकर पीछे लौट गए। अपनी इस धन लालसा को संतुष्ट करने के लिए वह ब्राह्मण तुरंत मन भी बनाता है कि परीक्षित तो अब कालग्रस्त है। उसकी आयु मर्यादा पूरी हो गई है। मैं प्रकृति के बीच में टाँग नहीं अड़ा सकता। आत्मवंचना का यह उत्तम उदाहरण आज भी समझ में आने जैसा है। इसके बाद तक्षक ब्राह्मण के वेश में गुप्त रूप से परीक्षित के पास पहुँच गया।

यहाँ तक सब बराबर है; किंतु फिर एक बार यहाँ से दोनों महाग्रंथों की कथा अलग पड़ जाती है। भागवत के बारहवें स्कंध के छठे अध्याय में परीक्षित मोक्ष की बात है। तक्षक राजा को डसता है, उसके पहले ही भागवत कथा के श्रवण से पवित्र हुए परीक्षित ने आत्मा का विगलन करके ब्रह्म-समाधि प्राप्त कर ली थी। तक्षक के डसने से उसका स्थूल शरीर भस्म हो गया, इतना ही। यह देह जैसे ही भस्मीभूत हुआ कि तुरंत ही एक बार पुनः पुष्पवृष्टि हुई। गंधर्वों व अप्सराओं का गान हुआ और यह ध्वनि हुई—‘बहुत अच्छा हुआ, बहुत अच्छा हुआ’।

महाभारत के आदिपर्व में, अध्याय २९ के श्लोक २३ से ३३ में सर्पदंश की बात भिन्न रूप में मिलती है। तक्षक अपने साथी सर्पों को उस दंडी महल में सुरक्षित बसे राजा के पास फल लेकर ब्राह्मणों के रूप में भेजा। इन फलों में छुपकर तक्षक राजा तक पहुँच गया। छद्मवेशी ब्राह्मणों के पास से फलों को स्वीकार करके ज्यों ही राजा फल खाने लगा कि तुरंत ही तक्षक ने उसे डस लिया और राजा की तत्काल मृत्यु हो गई। ज्यों ही राजा मृत्यु को प्राप्त हुआ कि मंत्री तुरंत ही भयभीत होकर रोते-रोते भाग गए।

इस प्रकार महाभारत में राजा परीक्षित का जो पात्रालेखन है, वह भागवत के पात्रालेखन से बिल्कुल भिन्न है। महाभारत के परीक्षित का स्वीकार का अर्थ हुआ कि संपूर्ण भागवत कथा की रचना के बारे में पुनर्विचार हो। इन दोनों आमने-सामने के सिरों के आलेखनों के संदर्भ में जो विचार करने योग्य है, वह यह कि विद्यावंतों द्वारा भागवत की परीक्षा यथार्थ ठहरती है।



दो उत्तुंग शिखरों का प्रतिबिंब

महाभारत के समग्र कथानक में—जिसमें सख्याबंध कथाओं, उपकथाओं तथा आदिकथाओं का भी समावेश होता है, संख्या की दृष्टि से सैकड़ों नहीं, कदाचित् हजारों पात्रों का आलेखन हुआ है। ऐसी समृद्ध और विविध पात्र सृष्टि का विश्व साहित्य के अन्य किसी ग्रंथ में जोड़ मिल नहीं सकता। इन तमाम पात्रों में दो पात्र ऐसे हैं, जिनका मूल्य अन्य सभी पात्रों के योग जैसा होता है। ये दो पात्र हैं—देवकीनंदन कृष्ण और गंगापुत्र भीष्म। निस्संदेह कृष्ण महाभारत की तमाम घटनाओं में व्याप्त पात्र हैं; किंतु गंगापुत्र भीष्म जिस प्रकार महाभारत में शुरू से अंत तक छाए हुए हैं, ऐसा व्यापक कृष्ण को नहीं मिला है। एक प्रकार से देखें तो कृष्ण से भी विशेष रीति से भीष्म महाभारत की कथा के केंद्र स्थान में हैं। महाभारत कथा के वटवृक्ष का बीजारोपण कदाचित् भीष्म के जन्म के साथ हुआ है। महाभारत के तमाम पात्रों में भीष्म मात्र गुरुजन ही नहीं, वयोवृद्ध भी हैं। महाभारत की घटनाओं में यदा-कदा संकट के क्षण दिखाई देते महर्षि वेदव्यास सबके मन में अधिक पूजनीय हैं; किंतु वयोवृद्ध तो भीष्म ही हैं। व्यास की पूजनीयता और श्रद्धेयता उनका तप है—उनकी अलिप्तता है, उनकी आर्षदृष्टि है। व्यास और भीष्म दोनों एक रीति से भाई हैं; यद्यपि दोनों की जननी अगल-अलग हैं और जन्मदाता पिता भी एक नहीं। पिता शांतनु और माता गंगा के पुत्र भीष्म और मत्स्य-कन्या सत्यवती की कौमार्यावस्था में पराशर ऋषि के साथ जनमे हुए व्यास दोनों संबंधों के आधार से भाई हुए, यह कैसा घटनाचक्र है। मत्स्य-कन्या सत्यवती का लग्न राजा शांतनु के साथ हुआ और इस प्रकार अलग-अलग माता-पिता की ये संतानें भीष्म और व्यास भाई बने।

पराशर ऋषि ने जब इस मत्स्य-कन्या से पुत्र उत्पन्न किया, उस समय वह कुमारी है और अनभिज्ञ बाला भी। यह देखते हुए उसकी वय उस समय सोलह-सत्रह वर्ष से अधिक नहीं होगी। व्यास के जन्म के बाद पिता पराशर इस बालक को अपने साथ ले जाते हैं और सत्यवती को उसका अखंड कौमार्य तपोबल से पुनर्स्थापित करते हैं। इसके बाद इस युवा, सुंदर एवं योजनगंधा बनी कन्या पर राजा शांतनु की दृष्टि पड़ती है और थोड़ी चर्चा के बाद इस कन्या को अपनी पत्नी भी बनाते हैं। पिता के इस पुनर्लग्न के समय भीष्म जवान हैं—युवराज के पद पर स्थापित हो चुके हैं और लग्न की वय तक पहुँच चुके हैं। मत्स्य-कन्या जब शांतनु की पत्नी बनती है तब वह जवान ही है, इसलिए व्यास के जन्म के बाद बहुत लंबा काल नहीं बीता। उसकी वय बीस वर्ष के आसपास हो, यही बुद्धिगम्य लगता है। इस समय बालक व्यास का लालन-पालन पराशर के पास होता रहता है और उसकी वय पाँच वर्ष से अधिक नहीं हो सकती। इस प्रकार यही व्यावहारिक लगता है कि भीष्म व्यास से पंद्रह वर्ष के आसपास वय में बड़े होंगे।

कृष्ण और अर्जुन लगभग समवयस्क हैं। भीष्म के बाद जिसे दूसरी पीढ़ी कहना चाहिए, ऐसी सत्यवती के पुत्र—चित्रांगद और विचित्रवीर्य—की संतानों (अलबत्ता व्यास द्वारा नियोग पद्धति से जनमे), अर्थात् धृतराष्ट्र-पांडु तीसरी पीढ़ी होती है। इस प्रकार पांडुपुत्र अर्जुन भीष्म के लिए चौथी पीढ़ी गिनी जाएगी। यदि अर्जुन और कृष्ण समवयस्क हों तो भीष्म कृष्ण की अपेक्षा कम-से-कम पचहत्तर से अस्सी वर्ष वय में अवश्य बड़े होंगे। इस हिसाब से कृष्ण भीष्म के लिए तो बालक ही कहे जाएँगे।

और यही भीष्म—पितामह भीष्म—राजसूय यज्ञ के समय सर्वप्रथम अर्घ्य के अधिकारी के रूप में कृष्ण के नाम का ही सूचन करते हैं। पूजा स्थान वय नहीं; पर गुण है, इस सिद्धांत का ही भीष्म ने यहाँ प्रतिपादन किया है। कृष्ण की महत्ता भीष्म संपूर्णतया जानते हैं। कृष्ण का सामर्थ्य और कृष्ण का लोकोत्तर रूप भीष्म से अपरिचित नहीं।

भीष्म कृष्ण को वंदनीय मानते हैं और कृष्ण का जो अभिगम है, वही मानव कल्याण का अभिगम है, यह पूरा-पूरा समझते हुए भी कालबद्ध भीष्म कृष्ण के विपक्ष में रहते हैं। स्वयं कृष्ण ने भीष्म की हत्या न करने की प्रतिज्ञा का त्याग करके रणक्षेत्र में आगे बढ़े—उस समय भीष्म कृष्ण से मुट्ठी-भर ऊँचे लगते हैं।

किंतु कृष्ण की रग-रग में भी भीष्म की महत्ता किस सीमा तक व्याप्त थी, इसका दर्शन शांतिपर्व के छियालीसवें अध्याय में हुआ है। युद्ध पूरा हो गया है, युधिष्ठिर ने राज्यधुरा सँभाल ली है। हस्तिनापुर ने इतिहास को स्वीकार कर लिया है। उस समय महाराज युधिष्ठिर एक सवेरे कृष्ण के पास जाकर कितनी ही बातें कहते हैं। कृष्ण सामने ही पलंग पर स्थिर बैठे हैं; किंतु युधिष्ठिर का एक भी शब्द उनके कान में पड़ता नहीं। कृष्ण ध्यानस्थ हो गए हैं। कृष्ण की देह यहीं है, किंतु चित्त किसी दूसरी जगह स्थिर हुआ है, यह जानकर युधिष्ठिर आश्चर्य से देख रहे हैं और कृष्ण का चित्त जब पुनः देह में आता है, उस समय वह कहते हैं, 'शरशय्या पर सोए हुए भीष्म उस समय मेरा ध्यान कर रहे थे और मेरा चित्त उनमें स्थिर हुआ था।' और ऐसा कहने के बाद कृष्ण युधिष्ठिर से कहते हैं—'महाराज! भीष्म अब शरीर-धर्म को समेट रहे हैं, अतः इस समय समस्त विश्व का ज्ञान भी अस्त होगा। तुम पितामह के पास से यह ज्ञान प्राप्त कर लो।'

कृष्ण के सूचन को स्वीकार करके युधिष्ठिर सब भाइयों, परिवारजनों, सभाजनों तथा ऋषिगणों और स्वयं कृष्ण के साथ गंगातट पर पहुँच जाते हैं; जहाँ भीष्म शरशय्या पर उत्तरायण के सूर्य की राह देखते हुए मृत्यु को रोककर सोए हैं। यहाँ महाभारत में जो प्रमाण मिलते हैं, उनमें ठीक-ठीक उलझन है। युद्ध के दसवें दिन भीष्म का पतन हुआ है। 'इच्छा मृत्यु' का वरदान उन्हें प्राप्त होने के कारण सूर्य की गति उत्तर की ओर हो, वहाँ तक उन्होंने प्राण टिकाए रखे हैं। पूरे अट्ठावन दिन तक प्राण टिकाए रखने का यह प्रयास उन्होंने किया है। अट्ठावनवें दिन सूर्य उत्तरायण का हुआ, उस समय उन्होंने देह-त्याग किया है। (अनुशासनपर्व अध्याय १५२, श्लोक २७)

शांतिपर्व के इक्यावनवें अध्याय में सब पांडवों के साथ कृष्ण जब शरशय्या पर सोए भीष्म के पास आते हैं, उस समय भीष्म से कहते हैं—'हे कुरुनंदन, तुम्हारी आयुकाल के छप्पन दिवस अभी शेष हैं।' भीष्म शरशय्या पर सोए, उसके बाद आठ दिन युद्ध चला है। उसके बाद सब मृत देहों का अंतिम संस्कार तथा राज्यारोहण आदि कर्म संपन्न हुए। इन संयोगों में कृष्ण भीष्म के आयुकाल के छप्पन दिवस शेष रहने की बात कहते हैं, इसका मेल बैठता नहीं है। इतना ही नहीं, भीष्म ने युधिष्ठिर को जो ज्ञानवार्ता सुनाई, उसके बाद हस्तिनापुर वापस लौटनेवालों से भीष्म कहते हैं—'अब सूर्य उत्तरायण में जाए तब मेरी अंतिम विधि के लिए आना।' (अनुशासनपर्व, अध्याय १५२, श्लोक ३०) इसी पर्व में अध्याय १५३ में इसके बाद नगर में पचास रात्रियाँ बीत जाने के बाद युधिष्ठिर को भीष्म द्वारा बताया वह समय याद आया (श्लोक ५), इस प्रकार लिखा है। फिर पचास दिवस के बाद सूर्य उत्तरायण हुआ, यह लिखा है। यहाँ कृष्ण के द्वारा कहे छप्पन दिवस को ध्यान में लें तो भीष्म की ज्ञानवार्ता छह दिन ही चली, यह मानना पड़ता है। यहाँ भी उलझन तो है ही। अध्याय १५३, श्लोक १५८ में भीष्म देह-त्याग के पूर्व क्षण में कहते हैं—'अब यह पवित्र माघ मास शुरू हुआ,' शुक्लपक्ष चलता है और महीने का तीन भाग अभी शेष है। इसका अर्थ भीष्म के देह-त्याग का दिन वसंत पंचमी के आसपास होना चाहिए।

कृष्ण जब भीष्म से युधिष्ठिर को ज्ञान देने के लिए कहते हैं, तब भीष्म जो उत्तर देते हैं, उसमें एक सुंदर प्रश्न है। कृष्ण ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया है, उसमें कृष्ण के मन में भीष्म के लिए जो अति गूढ़ किंतु प्रचंड सद्भाव है, वह प्रकट होता है। भीष्म कहते हैं—'माधव! पांडुपुत्र को धर्मोपदेश करने के लिए तुम मुझसे कहते हो; किंतु तुम स्वयं यह काम क्यों नहीं करते? तुम तो सबकुछ जानते हो।' भीष्म का यह प्रश्न तार्किक है और इस बात का द्योतक है कि वह कृष्ण की महत्ता खुद समझते हैं। इसके उत्तर में कृष्ण कहते हैं—'हे तात! तुम्हारी बात सच्ची है।

मैं यह जानता हूँ; किंतु तुम्हारे द्वारा जो वह बात कही जाएगी तो वेद-वाक्य की भाँति तुम्हारा यश अमर हो जाएगा। मैं यह चाहता हूँ कि यह अमरत्व तुम्हें प्राप्त हो।' भीष्म इस अमरत्व के अधिकारी हैं और उनका जो अधिकार है, वह उन्हें मिलना चाहिए। कृष्ण यहाँ भीष्म की महानता को मात्र स्वीकार ही नहीं करते, दूसरों की भी निःशंक स्वीकृति मिले, ऐसी परिस्थिति का निर्माण करते हैं। कृष्ण ने स्वयं कुछ भी प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया। वह राज्य हो अथवा यश, उनका प्रयत्न तो सदा ऐसी परिस्थिति का निर्माण करने की ओर रहा है, जिसमें उसके अधिकारी व्यक्ति को उसकी प्राप्ति हो। इसे कोई भक्तजन भगवान् और भक्त के बीच के संबंध के रूप में पहचान सकता है।

प्राण-त्याग के पहले पितामह युधिष्ठिर से कहते हैं—'पुत्र, तू कर्मानुसार अप्रारब्धवश आज यहाँ मंत्री सहित उपस्थित हुआ है।' इसमें प्रारब्ध के प्राबल्य का स्पष्ट संकेत किया है। जो कुछ आज प्राप्त हुआ है, वह पौरुष से अथवा अन्य किसी कारण से हुआ है, ऐसा अहं अथवा भाव तक पैदा न हो, इसके लिए भीष्म ने स्पष्ट कहा है कि जो कुछ सिद्धि मिली है वह मात्र कर्मानुसार, मात्र प्रारब्धवश है और फिर वाचा को अंतस्तल में गहरा उतार देने के पहले जो अंतिम वाक्य कहते हैं, उसमें मात्र शासक के लिए ही नहीं, मानव जीवन के लिए सफलता की कुंजी दे दी है। भीष्म कहते हैं—'हे प्रजानाथ! (इस प्रकार राजा की ओर स्पष्ट संकेत है) (ब्राह्मण कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ जन्म से नहीं, कर्म से ब्राह्मण ही भीष्म को अभिप्रेत है) प्राज्ञजन, आचार्य और ऋत्विज् इनको सदा ही पूजनीय मानना। विद्या, ज्ञान, तप, पवित्रता तथा उच्च आचार—ये तत्त्व कालातीत हैं। शासक को इन तत्त्वों को सदा ही पहचानकर उनका योग्य सत्कार करना चाहिए।' इस अंतिम संदेश के साथ पितामह एक के बाद एक स्थूल अंगों में से चेतना को सिकोड़ने लगते हैं। जैसे-जैसे अंग प्राणहीन होते गए वैसे-वैसे वे माँ के गए शरों में से अपने आप मुक्त होते गए। अंत में मस्तिष्क में से चैतन्य की ज्योति ने बहिर्गमन किया।

पितामह की इस बिदाई को सहज भाव से स्वीकार करने की मानसिक भूमिका तो निर्माण हो ही चुकी थी। गंगातट पर जहाँ भीष्म की पार्थिव देह की अंत्येष्टि विधि होती है, उस समय स्वयं गंगा प्रकट होती है। भीष्म के इस अंत की भव्यता सब स्वीकार करते हैं। किंतु स्वयं गंगा इसको स्वीकार नहीं कर सकती। अपने सात-सात पुत्रों का जन्म के साथ ही पानी में प्रवाह करके स्वस्थ जीवन जी चुकी यह जनेता, इस आठवें पुत्र की दीर्घायु का अंत स्वीकार नहीं कर सकती। वह विलाप करती है। उसका रुदन इस आठवें पुत्र के देहांत का नहीं। जिस प्रकार यह मृत्यु हुई, उस निमित्त के विरुद्ध वह आक्रंद करती है। वह कहती है—'जिस पुत्र ने परशुराम को भी परास्त किया, जिसने समग्र सृष्टि के राजाओं को परास्त करके तीन कन्याओं का हरण किया था, ऐसा नरश्रेष्ठ शिखंडी जैसे नपुंसक के कारण मृत्यु को प्राप्त हुआ, यह देखकर मेरा कलेजा विदीर्ण हो जाता है। उनके अंत का निमित्त शिखंडी बने, यह वक्रता मैं सहन नहीं कर सकती।'

यहाँ फिर एक बार कृष्ण ही मामला सँभाल लेते हैं। गांधारी के विलाप के समय भी कृष्ण ने ही परिस्थिति सँभाली थी। युद्ध के अंत में निर्वेद से घिरे युधिष्ठिर को कृष्ण ने ही धर्म की ओर प्रेरित किया था। कृष्ण के जीवन में अन्यों के विलाप के क्षण सँभाल लेने का अनेक बार हुआ है। विलाप करती जनेता गंगा को कृष्ण सांत्वना देते हैं। वसिष्ठ के शाप के कारण अवतरित वसु की बात सुना देते हैं। जनेता से भी विशेष जो परमधर्म है, वह सुना देते हैं। जनेता के भाव से मिश्रित क्षणिक आघात हटाकर जो भवितव्य और कर्म का सहज सुफल है, उसका स्मरण कराते हैं। शिखंडी तो कैसा निमित्त था और वास्तव में भीष्म के अंत के लिए इस निमित्त का कोई मूल्य न था, इस ओर ध्यान खींचते हैं। गंगा इस सांत्वना के बाद शांत हो जाती है और पुनः बहते प्रवाह में उतर जाती है।

भीष्म और कृष्ण के बीच, सपाटी पर भाग्य से ही दिखाई दे, ऐसा जो गूढ़तम भाव-प्रवर्तता है—जो समझ और

सद्भाव अंतरतम में स्थिर हुआ है—उसका रहस्य रोमांचक है। दोनों एक-दूसरे की महत्ता पूर्णतया समझते हैं और ऐसा होने पर भी काल और धर्म के अधीन होकर मात्र कुरुक्षेत्र में ही नहीं, समग्र जीवनक्षेत्र में भी इस तरह व्यवहार किया है कि जिसकी दूसरी मिसाल नहीं मिलती। दोनों एक सरीखे वंदन के अधिकारी हैं। महागिरि के दो उत्तुंग शिखरों के पृथ्वी पर पड़ने वाले व्यापक प्रतिबिंब आज सैकड़ों वर्षों बाद भी अपनी शीतल छाया प्रसारित करते हैं।



युग का अस्त और महाकाल का संकेत

जीव-सृष्टि का संचार फूग और शैवाल में से हुआ है, इस प्रकार यदि कोई भौतिकवादी कहता है या कि फिर इस प्राणि सृष्टि का सर्जन ईश्वर ने किया है, इस प्रकार जो कोई आधिभौतिकवादी कहे तो इन दोनों के बीच एक आधारभूत सत्य का स्वीकार तो होता ही है कि यह समग्र चैतन्य शून्य में से प्रकट हुआ है। चैतन्य का यह प्राकट्य—फिर भले ही यह जलचर रूप में हो, स्थलचर हो अथवा खेचर रूप हो, यह कोई निश्चित हेतु के बिना तो नहीं हो सकता। इस हेतु के बारे में यह हो सकता है कि हम अज्ञान में हों। यह मानव समझ की मर्यादा का परिणाम है। प्राकट्य जिस प्रकार अंत का द्योतक है, उसी प्रकार यह अंत इसके निश्चित हेतु के साथ जुड़ा हुआ है। इस निश्चित हेतु को अवतारवादी अवतारकृत्य कहें अथवा पहले भौतिकवादी संयोजन के घटक तत्त्वों का विसर्जन कहें, उसका परिणाम तो जिस प्रकार शून्य में से चैतन्य के आविष्कार स्वीकार हुआ, उसी प्रकार इस चैतन्य को उसकी स्थूलता में से सूक्ष्मता में, शून्यता में से विगलित होने के परिणाम की उलटी साहजिक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करते ही हैं।

श्रीकृष्ण के आयुकाल को लगभग सवा सौ वर्ष माना जाता है, किसी-किसी स्थान में उसे एक सौ चालीस वर्ष तक लंबा करने का प्रयास भी है। सवा सौ वर्ष और एक सौ चालीस वर्ष के बीच में सामान्य अंतर नहीं। इस आयुकाल में जो चैतन्य स्थूल रूप में विद्यमान था, उस चैतन्य का हेतु क्या था, इस बारे में विद्वान्, पंडित, विचारक निर्णय कर सकते हैं; किंतु इस एक सौ वर्ष के आयुकाल के अंत की भविष्यवाणी तो छत्तीस वर्ष पूर्व ही हो गई थी। महायुद्ध के उन्नीसवें दिवस ही माता गांधारी ने कृष्ण को शापित किया—‘छत्तीस वर्ष बाद तमाम यादवों सहित कृष्ण, तुम भी नष्ट हो जाओगे।’ इस प्रकार यह संभव नहीं कि कृष्ण भी अनंत अथवा शाश्वत रूप से सृष्टि पर विहार कर सकें। इसका संकेत तो मिल ही चुका था। इस संकेत का कृष्ण ने सहज भाव से, सस्मित स्वीकार भी किया था। कृष्ण और बलराम से रक्षित यादव अति समर्थ थे। इनका अंत लाना तत्कालीन जीव-सृष्टि में तो किसीके लिए संभव नहीं था, अतः गांधारी के शाप को निमित्त मानकर कृष्ण ने इस अंत की भविष्यवाणी का स्वागत किया था। अंत तो अनिवार्य था—प्राकृतिक था। गांधारी के शाप से अधिक बलवान् कारण और क्या हो सकता है! कृष्ण की यह आर्षदृष्टि और तटस्थ भाव—‘न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा’—में जो स्व-परिचय दिया है, वह इसीका द्योतक है।

महाभारत, श्रीमद्भागवत तथा विष्णुपुराण—इन तीनों ग्रंथों में आगे होनेवाली घटनाओं जैसे अपशकुनों की खासी सूची दी गई है। यह अपशकुन कोई व्यक्तिगत अंत के संकेत नहीं। महाकाल व्यक्ति को लक्ष्य में रखकर ऐसे संकेत कभी दे नहीं सकता। महाकाल के लिए व्यक्ति—फिर भले ही तत्कालीन युग में चाहे जितना महान् हो, एक बिंदु से अधिक स्थान रोक नहीं सकता। इसलिए महाकाल जब ऐसे संकेत देता है, उस समय वह एक युग के अस्त की निशानी होती है—एक संस्कृति की समाप्ति का यह संकेत होता है। कृष्ण की बिदाई एक युग का अस्त—एक संस्कृति की समाप्ति का संकेत होता है। कृष्ण की बिदाई एक युग का अस्त—एक संस्कृति के अंत के मूल्य के समान प्रचंड यह व्यक्तित्व था और इसलिए ही कृष्ण यादवों को निमित्त बनाकर ऐसे संकेत को महाभारत, मौसलपर्व, अध्याय ३; श्रीमद्भागवत, स्कंध ११, अध्याय ३० तथा विष्णुपुराण, अंश ५, अध्याय ३७ में कहीं विगतवार तो कहीं संक्षेप में वर्णित किया है। हरिवंश कृष्ण-चरित्र को ही सविस्तार आलेखन के लिए लिखा गया है। यह उसके आमुख में कहा गया है; किंतु कृष्ण के बारे में कोई संकेत तक इस ग्रंथ में नहीं है। यह ग्रंथ कृष्ण-चरित्र

का आलेखन करता है—उनके अंत के विषय में यह रहस्यमय रीति से मूक है।

ऐसे सूचक अपशकुनों में, चूहों की संख्या का अगणित होना, बार-बार आँधी का उठना, गाय के पेट में गधे जैसा, खच्चर के पेट में हाथी जैसा, कुतिया के पेट में बिल्ला जैसा, एक जाति के प्राणी के बदले दूसरी जाति के प्राणी जैसा बच्चा पैदा होना, गुरुजनों एवं बड़ों की अवज्ञा करने की वृत्ति में बढ़ोतरी होना, पति-पत्नी में परस्पर क्लेश तथा वंचना होना, भोजन की सामग्री में जीवों का उत्पन्न होना, भूकंप आना, आकाशी नक्षत्रों की टक्कर होना और सूर्यमंडल में कुंडल पड़ जाना तथा कृष्णपक्ष की तेरस के दिन ही पूर्ण अमावस्या हो जाना आदि मुख्य गिनाए गए हैं। इन दृश्यों की कल्पना ही किसी भी समझदार व्यक्ति को चिंतित कर सकती है।

महायुद्ध के छत्तीसवें वर्ष में द्वारका में ऐसे संकेतों का घटित होना श्रीकृष्ण ने देखा। अन्य कोई इन संकेतों को समझे अथवा न समझे, किंतु कृष्ण को तो गांधारी के शाप का स्मरण था ही। इन संकेतों पर मानो पूर्णविराम लगाते हों, इस प्रकार यादवकुमारों को कुबुद्धि भी सूझी और गुरुजनों की अवज्ञा, जिसका अपशकुनों की सूची में समावेश हुआ है, करनी शुरू की। कृष्ण के पुत्र सांब के पेट पर मूसल बाँधकर, उसे सगर्भा स्त्री का रूप देकर इन उन्मत्त कुमारों ने नारद जैसे महर्षि की उपस्थिति में अन्य ऋषियों का उपहास किया। ये सब यादव नारद की उपस्थिति में यह आवनय करें, यह सामान्य संयोगों में अकल्प्य है। यह तो हो ही नहीं सकता कि ये यादवकुमार नारद तथा अन्य ऋषियों का सामर्थ्य न जानते हों और ऐसा होने पर भी उन्होंने ऐसा अविचारी एवं निंदनीय आचरण किया, इसे काल की प्रेरणा के अलावा क्या कहा जा सकता है! काल द्वारा प्रेरित उन्होंने विनाश को आमंत्रित किया। विनाश का निमित्त वह मूसल निर्मित हुआ। ऋषियों के शाप से चिंतित यादवकुमारों ने जब यह बात द्वारका के यादव नेता उग्रसेन से कही, उस समय उन्होंने उस मूसल को नष्ट करने के लिए उसके शाप के संभावित परिणाम से बच जाने जैसी त्रुटिहीन चेष्टा भी की। गांधारी के जिस शाप को श्रीकृष्ण ने शिरोधार्य किया, उसी शाप का यह पुनरावर्तन है; किंतु उग्रसेन जैसे बड़े यादवों ने इस शाप को स्वीकार करने के बदले उससे बचने के लिए जो चेष्टा करते हैं, यह उस महाकाल द्वारा भ्रमित बुद्धि का द्योतक नहीं, ऐसा कौन कह सकता है! अन्यथा नारद आदि महर्षि शापित करें, उसके परिणाम से बचने के लिए उग्रसेन जैसे वरिष्ठ यादव—द्वारका का राजा ऐसा कदम भला कैसे उठा सकता है! इसका विचार भी कैसे कर सकता है!

किंतु यादव मद्यप्रिय हैं। शराब की लत बुरी है और इसमें जब मस्तक पर भय लटक रहा हो तब मद्य में लिपटा मनुष्य विवेकशून्य होकर आचरण करे तो यह आचरण विनाश का ही द्योतक हो सकता है। उग्रसेन ने पूछा कि सावधानीसूचक कदम के रूप में समस्त द्वारका में मद्यनिषेध जारी किया। मद्य का उत्पादन ही कोई न करे, इसके लिए उसने ऐसे अपराधों के लिए मृत्युदंड की व्यवस्था की। यह मद्यनिषेध मद्यपान से होनेवाली संभावित दुर्गति से बचने के लिए नहीं, मद्यपान एक दुर्गुण है और यह मनुष्य का सारासार भुला देता है, इस सुविचार से यह कदम नहीं उठाया गया—यह कदम तो भय-प्रेरित था। किंतु यह भय उग्रसेन को हो सकता है, कृष्ण को नहीं। नारद के शाप की बात उनके मन में तो गांधारी के ऐसे शाप के सफल होने के पल की सूचक ही हो सकती है। ऐसे शाप से बचने का प्रयत्न करने के बदले उसकी सफलता के लिए सहज भाव से प्रयत्न करना ही जीवन का सार्थक्य और गौरव है। कृष्ण का इसके बाद का आचरण इस गौरव से भरा है।

द्वारका छोड़कर यादव प्रभासक्षेत्र तीर्थाटन के लिए गए, इस बारे में महाभारत और भागवत के आलेखन में एकरूपता नहीं है। महाभारत कहता है, अपशकुनों तथा शाप के भय से प्रेरित होकर यादवों ने द्वारका को छोड़कर स्त्रियों सहित कहीं तीर्थाटन जाने की इच्छा प्रकट की, अतः कृष्ण और बलराम उन सबको प्रभासक्षेत्र ले गए। ये सब पुष्कल खाद्य एवं पेय पदार्थ, इसमें मद्य का भी समावेश होता है, साथ लेकर हाथी, घोड़ों और अन्य वाहनों

द्वारा प्रभासक्षेत्र पहुँचे। श्रीमद्भागवत के अनुसार, इन सब यादवों को कृष्ण ने ही सूचित किया था कि यादवों को शाप लगा है और शकुन भी अच्छे नहीं हैं, इसलिए हम सबको प्रभासक्षेत्र जाकर देवताओं का पूजन करना चाहिए; ब्राह्मणों का सत्कार करके दान देंगे और समुद्र तट पर बहती सरस्वती नदी में स्नान करके पवित्र बनेंगे। कृष्ण के प्रस्ताव को स्वीकार करके यादव नौकाओं द्वारा द्वारका से प्रभास तट आए और यहाँ से रथों द्वारा तीर्थक्षेत्र पहुँचे। इसमें स्त्रियों के साथ होने का कोई उल्लेख नहीं है।

कुरुवंशियों के विनाश की बात कहने के लिए ही जो महाभारत हजारों श्लोकों तथा सैकड़ों पृष्ठ भरकर अनेक पर्वों में विस्तार करती है, वही महाभारत यादवों के अंत की बात कहने के लिए एकाध अध्याय जितना ही स्थान देती है। इसमें भी मौसलपर्व बहुत छोटा है। इसमें प्रभासक्षेत्र में यादवों ने जिस प्रकार आत्मबलिदान किया, उसकी बात—जिसमें कृष्ण-बलराम के देहोत्सर्ग का भी समावेश हो जाता है; इस विषय में चौथे अध्याय के तीसरे तथा पाँचवें अध्याय के बीसवें श्लोकों जितना ही वर्णन मिलता है। कृष्ण जैसे युगपुरुष के अंत के लिए व्यास ने अधिक जगह क्यों नहीं दी, ऐसा प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है।

प्रभासक्षेत्र में जो कुछ हुआ, उसमें विवेक तो कहीं नहीं; किंतु जिन यादवों को समग्र आर्यावर्त के तत्कालीन युग पर प्रभुत्व प्राप्त था और युद्ध में जो अजेय माने जाते थे, वे सब एक-दूसरे पर जूटे बरतन फेंककर लड़ाई करते हैं, इसमें तो काल की वक्रता ही है। कृष्ण-अर्जुन का साथी कहा जा सके, ऐसा ज्ञानवृद्ध तथा परमवीर सात्यकि शराब के नशे में होश खोकर इस यादवस्थली का प्रारंभ करता है। इसमें भी विधि का क्रूर किंतु सूचक संकेत ही है। मनुष्य जब कालग्रस्त होता है, उस समय उसकी समझदारी, उसकी वीरता, उसका भव्य भूतकाल—यह सब ताश के महल की भाँति धराशायी हो जाता है। किसीको कुछ भी नहीं सूझता, वह मात्र काल से प्रेरित होकर मृत्यु की ओर अंधी दौड़ दौड़ता है। यहाँ वह प्रसिद्ध अंग्रेजी उक्ति याद आती है—ईश्वर जिसका नाश करना चाहता है, उसे सबसे पहले पागल बना देता है।

और यह सात्यकि जब यादवस्थली का प्रारंभ करता है, उस समय कृतवर्मा, कृष्णपुत्र प्रद्युम्न, सांब, कृष्ण का भाई गद, पौत्र अनिरुद्ध—ये सब नजर के सामने ही बैठे कृष्ण-बलराम जैसे पूजनीय बड़ों की परवाह किए बिना मद्यपान करते हैं और इस मद्य के असर के नीचे ही स्वयं क्या कर रहे हैं, उसके भान बिना परस्पर एक-दूसरे पर आड़े-टेढ़े प्रहार करते जाते हैं; यह दृश्य मात्र दयनीय ही नहीं, महाकाल के सामने नतमस्तक खड़े रहकर मानवीय शक्ति की मर्यादा को स्वीकार करने का मन होता है। इस प्रकार लड़ रहे सब कोई वृद्धजन थे। आयुकाल के अंत तक पहुँचे हुए थे और ऐसा होते हुए भी उनका आचरण पूर्व पच्चीसी के नासमझ युवकों जैसा ही है।

किंतु महाकाल ने जिनको घेर ही लिया है, उनके लिए पार्थिव मृत्यु तो एक निमित्त मात्र होती है। श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं कृष्ण ने अर्जुन को विराट् रूप का दर्शन कराते हुए कहा है कि कुरुक्षेत्र में लड़ने के लिए खड़े इन सबका वध यदि तू नहीं करेगा तो भी ये मृत्यु के अधीन हो चुके हैं। मृत्यु की ओर खिसक रहे भीष्म, द्रोणाचार्य, कर्ण, अन्य पांडव सेनापतियों तथा धृतराष्ट्र के पुत्रों को उस समय अर्जुन ने इस विराट् रूप के दाँतों के बीच चूर्ण होते देखा था। कृष्ण ने तब कहा था कि—‘कालोऽस्मि’ (अध्याय ११, श्लोक ३२)—लोगों का नाश करनेवाला और वृद्धि प्राप्त काल मैं हूँ। नाश करने के लिए ही मैं अब प्रवृत्त हुआ हूँ। तू नहीं लड़ेगा या निमित्त नहीं बनेगा तो भी इन सब योद्धाओं का अंत तो निश्चित ही है। अतः मेरे द्वारा पहले से मारे गए इन सबको मारकर तू निमित्त मात्र बन।

कृष्ण ने जो वाणी कुरुओं के लिए प्रयुक्त की थी, उसका ही यथातथ्य सार्थक्य प्रभासक्षेत्र में अपने आप्तजनों-परिवार के लिए बिलकुल तटस्थ भाव से प्रयोजित किया है। कृष्ण के मन में कोई अपना नहीं, कोई पराया नहीं।

सब काल-प्रेरित है। स्वयं कृष्ण भी इसमें निमित्त मात्र हैं।

और महाकाल ने जिनका नाश कर दिया है, उनके पार्थिव स्थूल मृत्यु के लिए किसी शस्त्र की भी क्या जरूरत! यादवों ने जब परस्पर एक-दूसरे की हत्या करने की होड़ शुरू की, उस समय कृष्ण ने भूमि पर उगे एक तृण की मुट्ठी भरकर रोषपूर्वक इन मद्यपियों-स्वजनों पर तिरस्कार से फेंकी। जिनका रक्षण सुदर्शन चक्र करता था, जो शस्त्राघातों को भी सहन कर जाते थे, वे रहे-सहे यादव इस घास के तिनकों को सहन नहीं कर सके। यह एक घास सांब के पेट पर बँधे मूसल के चूरे से पैदा हुई थी और यह मूसल ही यादवों का नाश करेगा, यह ऋषियों का शाप तो एक संकेत है। वास्तव में कालग्रस्त मनुष्य भले ही एक जमाने में अति सामर्थ्यवान् हो, जब मृत्यु के समीप पहुँचता है, उस समय घास का तिनका भी उसका अंत ला देता है। यही इसका रहस्य है।

इस प्रकार मात्र मुट्ठी-भर घास के तिनकों से सर्वनाश को प्राप्त यादवों के बाद अंत में बचे कृष्ण तथा बलराम भी स्थूल शरीरों को समेट लेते हैं। समुद्र के किनारे बलराम ने समाधि ली और देह त्याग दी। किंतु कृष्ण का स्थूल शरीर तो एक पारधी के तीर से बिंधकर कालग्रस्त हो जाता है। यह घटना भारी विचार-प्रेरक है। स्वजनों के सर्वनाश के बाद माता गांधारी के शाप का स्मरण करते हुए कृष्ण अश्वत्थ वृक्ष के नीचे विश्रान्ति ले रहे थे, उस समय उन्हें एक वन्य-पशु समझकर कोई शिकारी बींध डाले, यह बात भी मात्र महाकाल की महत्ता की द्योतक है। कृष्ण जैसे युगपुरुष को भी महाकाल केवल एक मृग मानकर अत्यंत निकृष्ट कोटि के एक पारधी के हाथ से अस्तित्वहीन कर सकता है, यह संकेत ही कदाचित् व्यास को अभिप्रेत हो।

किंतु 'जरा'—यह किसी पारधी का नाम नहीं, किंतु 'जरा' अर्थात् वार्द्धक्य और कृष्ण ने वार्द्धक्य के अधीन होकर ही देह-धर्म समेट लिया था, ऐसा ही अर्थ-घटन हुआ है। यह अर्थ-घटन का प्रश्न है—परिणाम पर इसका कोई फर्क नहीं पड़ता। कृष्ण ने बिदा ली और एक युग का अंत हुआ।

और महाकाल की विडंबना तो देखो।

कृष्ण-बलराम जैसे समर्थ पुत्रों के माता-पिता देवकी और वसुदेव अतिशय जीर्ण अवस्था में इस समय द्वारका में हैं। समस्त यादव परिवार नाश होने के बाद भी ये 'दुर्भाग' वृद्ध जीवित हैं। अपनी असली आँखों से इन्होंने यह सब देखा-सुना। इसके बाद अर्जुन के समक्ष वसुदेव ने जो विलाप किया है, उसमें अपनी दीर्घ आयु को शाप दिया है। ये वृद्धजन—देवकी-वसुदेव—इसके बाद आत्मविलोपन करते हैं; योग समाधि लेते हैं। उस समय सैकड़ों पुत्रों, पौत्रों और प्रपौत्रों के परिवार में से उन्हें अग्निदाह देने के लिए एकमात्र यादव बालक वजू ही शेष रहा, यह भी महाकाल की विडंबना ही है।

□

पूर्णत्व के आदर्श कृष्ण

संख्याबंध देव-देवियों और लोकोत्तर व्यक्तियों से परिपूर्ण हिंदू धर्मग्रंथों में श्रीकृष्ण के अलावा किसीको पूर्ण पुरुषोत्तम के रूप में नहीं माना गया। जिनकी अवतारवाद में श्रद्धा है, वे कृष्ण को भगवान् विष्णु का आठवाँ अवतार मानते हैं। जिन्हें ऐसी श्रद्धा नहीं, उनके लिए स्वयं कृष्ण ने एक वाक्य कहा है। समाधान के लिए अंतिम प्रयत्न के रूप में जब कृष्ण उपलव्य से हस्तिनापुर जाते हैं, उस समय अर्जुन से कहते हैं—‘जो कुछ मानवीय मर्यादा में होगा, वह सब मैं करूँगा; किंतु दैवी कर्म तो मैं कर नहीं सकता।’ इस प्रकार स्वयं कृष्ण ने अपना मानुषी रूप स्वीकार किया है।

किंतु बाद में कुरुक्षेत्र में प्रकट हुए विराट् रूप दर्शन के बारे में क्या कहा जाए! यह प्रचंड रूप प्रकट करने के बाद कृष्ण ने ही यहाँ कहा है—‘मैं ही महाकाल हूँ। समग्र ब्रह्मांड मेरे में व्याप्त है।’ यह कहने में किसी मानुषी मर्यादा का स्वीकार नहीं है। यहाँ तो कृष्ण मात्र पुरुषोत्तम ही नहीं, स्वयं परमात्मा बन जाते हैं। इसे किस रूप में समझाया जा सकता है!

छांदोग्योपनिषद् में आत्मा और परमात्मा के बारे में बात करते हुए लिखा गया है कि जो मनुष्य आत्मा में रत हो जाता है, वह आत्मा का ही सहचर होता है। आत्मा में ही इस विराट् का दर्शन करता है; उसके लिए परमात्मा कहीं बाहर नहीं है। आत्मा में ही परमात्मा का समावेश होता है। आत्मा को पहचानने का यह साहस कोई छोटे साहस का काम नहीं। समग्र विश्व के साथ जब तादात्म्य प्रकट होता है, उस समय उसकी आत्मा में यह विश्व समा जाता है और परमात्मा भी विश्व में ही कहीं नहीं है तो कहाँ है? त्रिलोक कहो अथवा चौदह भुवन कहो—आखिर में यह सब मिलकर ही विश्व की विभावना प्रकट करते हैं। ऐसा विश्व आत्मा में तभी समाता है, जब कोई लोकोत्तर पुरुष इस आत्मा को पहचान लेता है। कृष्ण ने विश्व चेतना के साथ तादात्म्य साधकर इस आत्मा को पहचाना था और इसलिए अपने में स्थित आत्मा में समाए विश्व का दर्शन उन्होंने अर्जुन को कराया, यह कथन छांदोग्योपनिषद् के कथन के साथ मेल खाता है। स्मरण रहे, छांदोग्योपनिषद् वेदांत साहित्य है। महाभारत काल के पूर्व ही उसका सर्जन हुआ था।

और अवतारवाद का जहाँ तक संबंध है, वहाँ तक यह विभावना ‘गीता’ के चौथे अध्याय के उस प्रसिद्ध श्लोक ‘संभवामि युगे युगे’ के पहले कभी स्पष्ट नहीं हुई। अवतारवाद का सिद्धांत यहीं पहली बार दिखाई देता है। पूर्वजन्म की बात पहले दिखाई देती है अवश्य; किंतु अवतारवाद, यह मात्र पुनर्जन्म नहीं, यह अलग ही बात है। कृष्ण ने जिसका उद्बोधन किया, यह अवतारवाद उसके बाद उत्पन्न हुए बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म आदि ने भी प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रीति से स्वीकार किया है। बुद्ध के जन्मांतरों की ‘जातक कथाएँ’ प्रसिद्ध हैं तो ईसा ने भी ‘जॉन द बेपिस्ट वाज इलिदा’, ऐसा कहा है। इसके उपरांत सोलमन की ‘बुक ऑफ बर्डन’ में कहा है कि देह यह है कि अगले जन्म का बदला है। कुरान ने जन्मांतर की कथा को दूसरी रीति से वाचा दी है। ‘पत्थर मिटकर मैं वृक्ष हुआ, वृक्षण के अंत में प्राणी बना, प्राणी की मृत्यु के पीछे मैं मनुष्य बना, मनुष्य के रूप में मरकर मैं देवदूत होऊँगा!’ यह कहने के पीछे कुरान उत्क्रांतिवाद की बात कहने के साथ ही जन्मांतरीय बात कहती है।

किंतु, फिर कृष्ण को ही क्यों पूर्ण पुरुषोत्तम कहा गया? कृष्ण जिनके आठवें अवतार हैं, उन स्वयं विष्णु को भी पूर्ण पुरुषोत्तम नहीं कहते, ऐसा क्यों? इसका उत्तर खोजने के लिए बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं। एक तो विष्णु मानुषी रूप ही नहीं हैं। जो मनुष्य नहीं, उसे पुरुष ही न कहा जाए तो ‘पूर्ण पुरुषोत्तम’ कहने का प्रश्न ही नहीं

उठता। यह समाधान स्वीकार करने के बाद वह प्रश्न अन्य परिप्रेक्ष्य में उठता है। संख्याबंध लोकोत्तर व्यक्तियों और राम जैसे अन्य तथाकथित अवतार भी हैं ही। इन सबमें कृष्ण अपने किस पहलू के कारण पूर्ण बने? पूर्ण तो मात्र अजन्मा ही होता है।

यहाँ पूर्ण का अर्थ समग्र सृष्टि के व्याप को उसकी भव्यता, मर्यादाओं, सुखों, दुःखों, दूषणों, महत्ता और उसके संपूर्ण रूप को सहज ही कचावट बिना, वह जैसा है वैसा ही है, जब जो कुछ सहजता से सन्मुख हुआ, उसका पूर्ण स्वीकार यही है कि इस पूर्णत्व का अर्थ! राजसूय यज्ञ के समग्र आर्यावर्त के प्रचंड व्यक्तित्वों की उपस्थिति में पहले अर्घ्य का अधिकार जिस तटस्थता से स्वीकार किया जाता है, उसी तटस्थता से गोपियों का चीरहरण भी स्वीकार किया गया। (यदि इस घटना को उसके स्थूल रूप में स्वीकार किया जाए तो कहीं कुछ भी कमी नहीं। कोई काम छोटा या बड़ा नहीं। सकल विश्व में जो कुछ है, वह ईश्वरप्रदत्त है—उसका पूर्ण किंतु संयमपूर्वक उपभोग—इसका स्वीकार; जो देह के अनुकूल हो, उसका ही स्वीकार और प्रतिकूल हो, उसका अस्वीकार—यह कृष्ण को मान्य नहीं। संपूर्ण स्वीकार—यही कृष्णत्व, गांधारी के शाप का ही स्वीकार और आप्तजनों के अंत का भी सहज भाव से स्वीकार।) यह स्वीकृति ही कृष्ण को पूर्णत्व प्रदान करती है। अन्य किसी देवी-देवता के चरित्र में इस प्रकार सकल सृष्टि का बिना किसी अपवादपूर्ण स्वीकार नहीं हुआ। कहीं उपवास, कहीं अहिंसा, कहीं तप, कहीं त्याग, कहीं ब्रह्मचर्य—ऐसे अनेक सुनिश्चित लक्षणों को त्याज्य या ग्राह्य मानकर महत्ता का आरोपण हुआ है। कृष्ण ने ऐसी सुनिश्चित लक्षणोंवाली महत्ता को स्वीकार नहीं किया। उलटे इन लक्षणों को उन्होंने नई विभावना दी। यही हुआ कृष्ण का पूर्ण पुरुषोत्तम स्वरूप।

यह पूर्णत्व प्राप्त हुआ, अतः इसका यह अर्थ नहीं कि मानुषी मर्यादा को कोई स्थान नहीं। कृष्ण अजन्मा तो नहीं और मानुषी मर्यादा तो जन्म के साथ ही जन्म लेती है। इस मर्यादा का सुंदर, मानसशास्त्रीय किंतु कवित्वपूर्ण एक उदाहरण महाभारत के आश्वमेधिकपर्व के पंद्रहवें अध्याय के छठवें एवं सातवें श्लोकों में है। युद्ध पूरा हुआ और सब यथा स्थान हो जाने के बाद हस्तिनापुर में अर्जुन एक बार कृष्ण से कहते हैं—‘हे केशव! कुरुक्षेत्र में आपने मुझे जो ज्ञान दिया था, वह उस समय की मेरी भ्रमित अवस्था के कारण स्मरण नहीं रहा, वे कथन मुझे एक बार फिर सुनना है।’ इसके जवाब में कृष्ण स्पष्ट कहते हैं—‘हे पांडुपुत्र! तुमने यह सब भूलकर बहुत बुरा किया है। उस समय जो कहा गया, वह सब पुनः कहने के लिए तो मैं भी असमर्थ हूँ।’ कभी कोई ऊँचे प्रकार की बात सहज भाव से, मनुष्य संयोगों के तकाजों के अधीन प्रकट कर बैठता है। इसमें कोई आयास नहीं होता। अनायास जो हुआ, उसमें व्यक्ति में गूढ़ रूप से विद्यमान सामर्थ्य और परिस्थितियों का ही प्रभाव होता है। यह परिस्थिति बदल जाने के बाद वह पुराना सामर्थ्य भी पीछे लुप्त हो जाता है। कारण, यह दैवी सामर्थ्य नहीं, यह तो है मानुषी मर्यादा। स्वयं कृष्ण भी ‘गीता’ की दूसरी आवृत्ति प्रकट नहीं कर सकते।

कृष्ण की कालगणना करने के पीछे विद्वान् एवं पंडित ठीक-ठीक समय और शक्ति खर्च करते हैं। कृष्ण तीन हजार वर्ष पहले हुए या चार हजार वर्ष पहले, यह निश्चित हो जाने से कोई तात्त्विक अंतर नहीं पड़ता। कृष्ण का व्यक्तित्व जिस प्रकार लोकोत्तर है, उसी प्रकार कालोत्तर भी है। हाल ही में प्रकट हुए एक संशोधन ग्रंथ ‘बिगनिंग ऑफ लाइफ, कल्चर एंड हिस्ट्री’ के कर्ता एस.डी. कुलकर्णी और अन्यो में कृष्ण को सिंधु घाटी की संस्कृति अर्थात् आर्यों के आगमन के पूर्व की जो मोहनजोदड़ो की संस्कृति थी, उसमें कृष्ण को एक पात्र के रूप में शामिल कर लिया है। इस शोधकार्य में मिली एक मूर्ति में दो मनुष्य एक वृक्ष को धारण करके खड़े हैं और स्वयं वृक्षदेव उन्हें साक्षरा देते हैं। इस शिल्प में यह वृक्ष देवता बाल्यावस्था के कृष्ण हैं, यह सिद्ध किया गया है अथवा सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। हमारी पारंपरिक समझ के अनुसार कृष्ण, आर्यों के आगमन काल के जनपदी



COLLECTION OF VARIOUS
-> HINDUISM SCRIPTURES
-> HINDU COMICS
-> AYURVEDA
-> MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

**Icreator of
hinduism
server!**

KAPWING

गणतंत्रों का इतिहास है, यह समझ यहाँ बदल जाती है।

यह जैसा भी हो।

कृष्ण एक ऐसा व्यक्तित्व है कि जिसको स्वीकार किए बिना किसीका गुजर नहीं होता। कृष्ण के बाद शताब्दियों बाद प्रकट हुए बौद्ध तथा जैन धर्म को भी अपने मार्ग में कृष्ण ही अड़ियल शिला के समान प्रतीत हुए और इसलिए राम अथवा अन्य कोई हिंदू देव-देवी को नहीं, मात्र कृष्ण को ही बौद्ध धर्म ने 'मार' कहा और नीचे की कोटि का व्यक्ति चित्रित करने की कोशिश की तो जैन धर्म ने उन्हें 'गीता' में दिए हिंसा के उपदेश के लिए नरक में भेजने की सजा दी है। कृष्ण ने तो हिंसा का उपदेश दिया; किंतु राम ने तो अनेक गुना अधिक हिंसा की थी और ऐसा होने पर भी राम को नरकवास की सजा नहीं दी गई, यह बात कृष्ण के व्यक्तित्व के बाद की शताब्दियों में अन्य धर्मोपदेशकों को कितना विराट् प्रतीत हुआ होगा, इसका ही समर्थन करती है।

कृष्ण का कोई काल न हो, कृष्ण का कोई निश्चित आकार नहीं हो। मनुष्य जाति ने पहली बार विचार करना शुरू किया, तभी कृष्ण की विभावना प्रकट हुई थी, यह कहा जा सकता है। मनुष्य जाति जब तक विचार करना जारी रखेगी, तब तक कृष्ण टिके रहेंगे; कारण, कृष्ण एक आदर्श हैं—पूर्णत्व के आदर्श। ईश्वर के बारे में मनुष्य जाति ने भिन्न-भिन्न काल तथा प्रदेशों में जो कल्पनाएँ की हैं, उन कल्पनाओं का आविष्कार हैं कृष्ण।

कल्पना के इस आविष्कार को नतमस्तक वंदन किए बिना और कुछ हो नहीं सकता।

□□□